"सम्यक् संकल्पसंबन्धात्, सम्यक्चेन्द्रियनिग्रहात्।
"सम्यग्व्रतविशेषाच्च, सम्यक्च गुरुसेवनात्॥ ७६॥
"सम्यगाहारयोगाच्च, सम्यक् चाध्ययनागमात्।
"सम्यक्कर्मोपसंन्यासात्, सम्यक्चित्तनिरोधनात्॥ ७७॥
"एवं कर्माणि कुर्वन्ति, संसारविजिगीषवः।
"रागद्वेषविनिर्मुक्ता, ऐश्वर्यं देवता गताः॥ ७८॥

(वनपर्व)

श्री. नरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ

* ॐ तत्सत् *

"यतः सत्यं, यतो धर्मो, यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥"
(उद्योग-यानसन्धिपर्व ६८-६)

जिधर सत्य होगा, जिधर धर्म होगा, जिधर सरलता
होगी उधर ही गोविन्द रहेंगे और जिधर
गोविन्द होंगे उधर ही जीत होगी ।

आत्म-निवेदन

१६२१ नवंबर की धकापेल को कौन भूल सकता है। इधर सरकार की धकापेल और उधर कांग्रेस की धकापेल-इस दुतर्फा धकापेल के अवसर पर, क्रिमिनिल-ला अमेण्टमेण्ट एक्ट १६०८ के अनुसार मैं ता० १० दिसम्बर को पकड़ा गया और ता० १३ को मुझे एकवर्ष का कठोर कारावास व २०० रु० दंड दिया गया। रुपये न भरने पर तीन मास का और कठोर कारावास लिखा गया। मैंने समझा था कि मेरा सवा वर्ष बान बटने, चक्की पीसने व रामबाँस कूटने में ही चला जायगा और मैंने अपने मन को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये तैयार भी कर रक्खा था। देहरादून, मुरादाबाद, बरेली, लखनौ, रायबरेली इन पांच जेलों की यात्रा करते हुए मैंने फर्स्ट सेकण्ड, थर्ड, नॉन-पोलिटिकल इन सभी क्लासों का अनुभव लिया और जहां जैसा सुभीता मिला उसी के अनुसार इस ग्रन्थ को लिखता रहा। चिरकालसे इस ग्रन्थ के लिखने की इच्छा रहने पर भी पब्लिक कार्यों से अवकाश न मिला अनायास यह इच्छा जेलमें पूर्ण हुई। जेलसे बाहर आकर फिर बाह्यकार्यों में संलग्न रहने के कारण इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ। जिस ग्रन्थको लिखते रहनेसे जेलका दुःखमय जीवन भी सुखमय प्रतीत हुआ, उसी ग्रन्थको जनता के लाभार्थ प्रकाशित किया जाता है-आशा है जनतात्मा मेरे इस अल्प स्वल्प प्रयत्न से प्रसन्न होकर मेरे परिश्रमको सफल करेगी

यद्यपि गीता पर बड़े बड़े विद्वानों के बड़े बड़े ग्रन्थ प्रकाशित होचुके हैं, तथापि भारतीय युवक समाज की हित दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेषरूपसे तैयार किया गयाहै। जेलमें आये हुए सैकड़ों नवयुवकों की दशा देखकर मुझे यह भान हुआ कि इन लोगों में 'गीतारहस्य' जैसे विकट ग्रन्थ को समझने की शक्ति नहीं है जिसको पौरस्त्य वं पाश्चात्य तत्वज्ञान का कुछ बोध नहीं वह सहसा 'गीतारहस्य' को क्योंकर समझ सकता है। यह हमारा 'गीताविमर्श' वाचकों को गीतामन्दिर के मध्यभाग तक पहुंचा देने की शक्ति रखता है। वहाँ पहुंचकर वहाँ के आनन्द को अनुभव करना उनका काम है। इस ग्रन्थ में महाभारत का भी आनन्द लीजिये और गीतामृत को भी पीजिये॥

मकर-संक्रान्ति
१६८०

श्री नरदेव शास्त्री,
(देहरादून)

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ॥

(सौति)

मैं हाथ उठा-उठाकर चिल्ला रहा हूं, पर कोई सुनता ही नहीं। भाई, धर्म से ही अर्थ मिलेगा, धर्म से ही तुम्हारी समस्त। शुभ कामनायें पूर्ण होंगी-उसी धर्म को तुम क्यों नहीं करते हो।

—०—

भूमिका ॥

"यतो धर्मस्ततो जयः"

कहो क्या होरहा है ?

महाभारत में उद्योगपर्व के पढ़नेसे विशेषतः १४७, १४८, १४६ अध्यायों के देखने से पता चलता है कि वस्तुतः राज्याधिकारी पाण्डव ही थे। वंशपरम्परा के चित्रसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'धृतराष्ट्र' अन्धा था अतः उसको राज्य का हक़ नहीं पहुंच सकता था। 'विदुर' दासी का पुत्र था अतः वह भी अनधिकारी था। केवल छोटा 'पाण्डु' ही राज्य का हक़दार था इसीलिये उसी को गद्दी मिली। किन्तु वह कारणविशेषसे वैराग्ययुक्त होकर राजपाट धृतराष्ट्र के सुपुर्द करके वन को चलागया। विदुर भी धृतराष्ट्र के साथ काम काज की देख भाल करते रहे। इसी कारण लोग भी धृतराष्ट्र को ही सब कुछ समझने लग गये। पाण्डव उस समय बच्चे थे। इसलिये बात नहीं बढ़ी। जैसे जैसे वे बड़े होने लगे धृतराष्ट्र की चिन्ता बढ़ने लगी। उधर दुर्योधन को भी राज्य लेने की सूझी। उसने अपने मामा 'शकुनि' द्वारा द्यूत क्रीड़ा का कपट नाटक रचा और 'युधिष्ठिर' का राज पाट सब छीन लिया। परिणाम यह हुआ कि पाण्डवों को बारह वर्ष वनवास व एक वर्ष अज्ञातवास भोगना पड़ा। इस प्रतिज्ञा के पूर्ण होजाने पर राजा 'द्रुपद' की अध्यक्षता में एक सभा हुई। सबकी संमति से यह पास हुआ कि द्रुपद का पुरोहित कौरवों के

पास जावे और समझावे कि वे पाण्डवों का भाग देदें। उसने जाकर बहुत कुछ समझाया पर कौन सुनता है; उधर से धृतराष्ट्र ने भी पाण्डवों के पास 'सञ्जय' को भेजा कि वह शान्ति स्थापना का यत्न करे। सञ्जय' ने लौटकर पाण्डवों की युद्ध की तैयारी का वर्णन किया। धृतराष्ट्र बहुत घबराया, 'विदुर' को बुलाकर धर्मतत्त्व समझने का यत्न करता रहा ॥ महर्षि सनत्सुजात से भी उपदेश सुना पर मोहवश उसकी समझमें कुछ नहीं आया।

इधर पाण्डवोंने सोचा कि किसीप्रकार 'कृष्णजी' धृतराष्ट्र के पास जाकर समझा आवें तो अच्छा हो–उनकी इच्छानुसार कृष्णजी गये, विदुर जी के यहां ठहरे। दूसरे दिन बड़ा दरबार हुआ, उसमें श्रीकृष्णजी ने दोनों के हित की बात कही। "भीष्म द्रोण, विदुर, धृतराष्ट्र, गान्धारी" आदि ने बहुत समझाया पर हठी 'दुर्योधन' कब मानता? उद्धत दुर्योधन ने कृष्ण को क़ैद करना चाहा पर सफल न हुआ। यदि वह ज़रा भी कृष्ण जी पर हाथ डालता तो उसी दिन कौरवों का अन्त होजाता. किन्तु कौरवों के प्रारब्ध अच्छे थे जो धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलाकर डपटा।

कृष्ण जी "कुन्ती" व विदुर से मिलकर चले गये। युधिष्ठिर ने जब देखा कि किसी प्रकार से भी शान्ति से राज्य नहीं मिल सकता तब उस ने युद्ध की ठानी। ऊपर ऊपर सुलह की बातें होती रहीं किन्तु भीतर भीतर दोनों ओर तैयारी होती रही। पाण्डवों की ओर सात और कौरवों की ओर "ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं।" कृष्ण के भाई 'बलराम' जी उदासीन होकर तीर्थयात्रा में चले गये। कृष्ण जी पांडवों की ओर और "यादवी सेना" कौरवोंकी ओर गई। जब दोनोंओर

की सेनाएँ "कुरुक्षेत्र" के मैदान में आडटीं तब वहां की दशा को जानने के लिये राजा धृतराष्ट्र ने सञ्जय से पूछा "कहो! क्या हाल हैं, क्या हो रहा है"?

होनहार ऐसी ही है

युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व "व्यास जी" धृतराष्ट्र के पास आये थे तब उस ने व्यास जी से वर मांगा था कि उस को वहीं बैठे बैठे रणक्षेत्र की प्रत्येक क्षण की बात ज्ञात होसके। व्यास जी ने सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी और कहा कि 'यह सञ्जय तेरे पास रहता हुआ भी युद्ध क्षेत्र की क्षण क्षण की बात जान सकेगा और तुझे बतलाता रहेगा' जब धृतराष्ट्र ने सञ्जय से वहां का हाल पूछा तभी सञ्जय ने दिव्यदृष्टि से देखा और सब कुछ बतलाने लगा। बस यहीं से 'गीता' की भूमिका समझिये।

जब अर्जुन की इच्छानुसार कृष्ण ने उस का रथ दोनों दलों के बीच में लाकर खड़ा किया और जब अर्जुन ने दोनों ओर दृष्टि डाली तब वह युद्ध के परिणाम को सोचकर काँप गया। इधर और उधर इष्ट-मित्र, बन्धु बान्धव, गुरु-आचार्य आदि को देखकर उस के मन में आया कि इस तरह अपने ही आदमियों का नाश करके राज्य लेने की अपेक्षा भीख मांग कर खाना अच्छा! उस को मोह ने इतना घेर लिया कि वह धनुर्बाण छोड़कर रथ में बैठ गया-क्षात्र धर्म को, जो कि उस का स्वाभाविक धर्म था,—भूल बैठा। वस्तुतः मोह ऐसी ही वस्तु है कि इस के प्रभाव से विद्वान् पुरुषों की भी बुद्धि विपरीत हो जाती है और वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जाता है। उस समय स्वाभाविक क्षात्र धर्म के विरुद्ध इस प्रकार की कायरता की बात देखकर कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है वही 'गीता' है।

कृष्ण का उपदेश न होता तो "महाभारत युद्ध" टाँय टाँय फिस हो जाता, राज्य दुर्योधन के पास ही रहता, युधिष्ठिरादि फिर 'भिक्षां देहि' करने में लग जाते, जंगलों में मारे मारे फिरते। परन्तु यह युद्ध होना ही था, टल नहीं सकता था। उस समय के सभी वृद्ध महानुभाव इस बात को देख रहे थे। समझ रहे थे, सब ने शान्ति के लिये यत्न किया और अन्त में 'होनहार ऐसी ही है' कहकर युद्ध में पड़ गये और अड़ गये।

यह बात भूलने की नहीं

धर्मतत्त्व की गहनता को समझना अत्यन्त कठिन है। महाभारत को आदि से अन्त तक पढ जाइये आश्चर्य होता है कि कैसे तो बात शुरू हुई और कहाँ आकर समाप्त हुई। हाँ महाभारत से जगत् पर यह बात स्पष्ट हुई कि सत्य की ही विजय होती है। प्रारम्भ में चाहे असत्य के विजयी होने का भान होता है पर वह असत्य अन्त में हार जाता है। जिधर धर्म होता है उधर ही जीत होती है। "यदि इसी एक तत्व के लिये" महाभारत हुआ और उस में इतनी प्राण हानि हुई तो भी महाभारत की सफलता सिद्ध है।

चाहे कौरवों के हाथ में राज्य रहा या पांडवों के प्रजा को किसी प्रकार का क्लेश नहीं था। दोनों के राज्य में प्रजा समान रूप से सुखी थी। दोनों प्रजाको पुत्रवत् पालते रहे। यह युद्ध एक वंश से चलकर अन्त में इतना जगद्व्यापी युद्ध हुआ कि इस में संसारभरके नरमणि काम आये और आज तक इस प्रकार का नरमेध यज्ञ पृथिवीतल पर शायद ही कहीं हुआ हो यूरोपीय महाभारत हुआ सही पर उस यूरोपीय महाभारत में और इस भारतीय महाभारत में बहुत अन्तर है। उस समय की प्रज्वलित हुई अग्नि

के अवसर पर भी लोग धर्म का कितना आदर करते थे रीति-नीति, मान मर्यादा का कितना खयाल रखते थे यह एक देखने की बात है। चाहे कोई किसी पक्ष में हुआ पर किस प्रकार अपने वचन पर अटल रहा यह एक कौतुक का विषय है। केवल अठारह दिन में कितनी घोर प्राण हानि हुई यह बात भी भूलने की नहीं है।

भवितव्यता ऐसी ही थी

"धृतराष्ट्र" कहता है मैं सब बातों को समझता हूँ पर क्या करूं दुर्योधन के पास जाते ही मेरी मति बदल जाती है। "दुर्योधन" कहता है कि युधिष्ठिर ने जुआ क्यों खेला, जुए में अपने आप हार गया है, अब राज्य हमारा ही है। उन्होंने बारह वर्ष वनवास तो किया किन्तु एक वर्ष के अज्ञात वास के समाप्त होने के पूर्व ही प्रकट हुए, इसलिये फिर तेरह वर्ष को जावें। फिर जब अवधि पूर्ण करके आवेंगे तब राज्य दे दूंगा। नहीं तो पाँच गाँव तो क्या सुई की नोक जितनी भूमि भी नहीं दे सकता। "भीष्म द्रोण" आदि कहते हैं चान्द्रमास के हिसाब से उन का अज्ञात वास पूरा उतर गया है। "युधिष्ठिर" कहते हैं, हम क्षत्रिय हैं भीख मांगकर खा नहीं सकते पाँच गाँव दे दो, बाकी छोड़ा तुम्हारा राज पाट।

'कर्ण' दुर्योधन से कहता है अड़े रहो। 'कृष्ण' कौरवों से कहते हैं कि तुम्हारी मति भ्रष्ट हुई है, कौरवों का अन्तकाल समीप आ पहुंचा है। 'द्रौपदी' अपने पतियों से कहती है कि तुम लोगों को क्या होगया? क्या मेरे सिर के बाल ऐसे ही बिखरे रहेंगे, वेणी नहीं बंधेगी? 'कुन्ती' भीम के लिये संदेश भेजती है कि क्षत्रियमाता जिस काम के लिये बच्चा जनती है उस काम का समय आगया है। "पाण्डवों के पक्ष के राजा"

कहते हैं कि तुम धर्म पर हो अतः हम तुम्हारा साथ देंगे। "दुर्योधन-पक्ष के राजा" कहते हैं कि है तो राज्य पाण्डवों का ही, पर अब वचनबद्ध होचुके हैं अतः तुम्हारी ओर से लड़ेंगे। "भीष्म, द्रोण" कहते हैं कि—दुर्योधन! हक़ तो पांडवों का है पर क्या करें हमने अन्न तुम्हारा खाया है इस लिये तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे पर तुम्हारा नाश ज़रूर होगा, पाण्डवों को कोई जीत नहीं सकता। क्या ये लोग हानि लाभ नहीं समझते थे, क्या सब मिल कर शान्ति-स्थापना नहीं कर सकते थे। उत्तर यही है कि भवितव्यता ऐसी ही थी।

समझदार धर्ममूर्त्ति युधिष्ठिर की 'द्यूतक्रीडा' विचक्षण धृतराष्ट्र का अत्यन्त 'पुत्रमोह' दुर्योधन का 'राज्यलोभ' भीष्म द्रोण आदि के संमुख 'द्रौपदी का अपमान' उनका असत्यपक्ष के साथ होकर 'पाण्डवों से लड़ना' इत्यादि बातें स्पष्ट बतला रही थीं कि कुरुकुल का अन्त आगया।

परमात्मा के नियम अटल हैं, विचित्र हैं—वह किसरूप में किस समय दण्ड देगा व उसी में सत्य की रक्षा करेगा यह बात मानव बुद्धि में आनी कठिन है। व्यक्ति का पाप, समुदाय का पाप, देशका पाप और अन्य अनेक प्रकार के पापोंके दण्ड भिन्न २ रूप में आते हैं। यूरोप के राज्य तो परस्पर विरोधसे मिटगये पर जापान बेचारा अपने आप ही भूँचाल द्वारा नष्ट भ्रष्ट हुआ—कर्म की गति को कौन समझ सकता है।

युद्धप्रथा नष्ट नहीं हो सकती।

अनन्त काल से एक पक्ष चला आरहा है, वह यह चाहता है कि संसार से युद्ध की प्रथा उठादीजाय। वह पक्ष आजतक कृतकार्य नहीं हुआ और न होसकता है। संसार में 'स्वार्थ' का अधिराज्य सदैव से चला आरहा है। वह कभी न्यून हो

जाता है, कभी दब जाता है, कभी उभर जाता है। जिस प्रमाण में न्यून होता है या दब जाता है, उसी प्रमाण में युद्ध भी कम होते हैं। 'स्वार्थ' जिस प्रमाण में उभरता है युद्ध भी उसी प्रमाण से उभरते हैं। संसार के इतिहास इस बात का साक्ष्य देते हैं।

मानव जाति की वासनाएँ, जन्म-परम्परा के कर्मबन्धन, स्वार्थ आदि पर दृष्टि डाल कर कहना पड़ता है कि संसार से युद्ध की परम्परा कभी भी हट नहीं सकती, कभी नष्ट नहीं हो सकती। देवासुर संग्राम सृष्टि के आदि से ही चले आ रहे हैं और सृष्टि के अन्ततक चलेंगे। जब तक संसार में लोभ, ईर्ष्या, असूया द्वेष, अन्याय आदि रहेंगे तबतक युद्धभी बराबर होते रहेंगे। पहले पहले धर्म की हार होकर पश्चात् वह विजयी होता रहेगा संसार में युद्ध न हों तो संसारकी आँखें न खुला करें।

कौरव व पाण्डवों के युद्धमें "यदि कौरव विजयी होते" तो संसार में यह होता कि कौरवों के सदृश अन्यायी होना चाहिये, पाण्डवों ने धर्म करके क्या कर लिया। राम-रावण के युद्धमें 'यदि रावण जीत जाता" तो संसारसे दैवी सम्पत् मिट जाती और आसुरवृत्तिका ही राज्य होता। १९१४ से १९१८ तकका जर्मन युद्ध इसी प्रकार संसारकी आखें खोल चुका है। जो राष्ट्र जितना अपराधी था उसको उतना दण्ड मिल चुका। किसीकी हार हुई पर असलमें वह जीता। किसी की जीत हुई पर असल में वह हारा और सौ-सौ दोदो सौ वर्षों के लिये वह राष्ट्र दिवालिया बन गया। किसी बेचारेको बैठे बिठाये स्वतन्त्रता मिली, किसी का बोझ हलका हुआ, किसी का नाम हुआ, किसी का काम बना। किन्हीं राष्ट्रों को पाप कर्मों

का प्रायश्चित्त मिला और बीचमें ही पिस गये। कोई बीचमें ही उभर गया, किसीको आँख उठाकर देखने का मौक़ा मिला इस तरह युद्ध से लाभही हुआ।

इतने घोर युद्ध हुये, इतने घोर उपद्रव मचे पर क्या अब भी शान्ति की आशा है? क्या 'स्वार्थ' फिर उभर नहीं रहा? क्या भयङ्कर कूट यन्त्रणायें नहीं हो रही हैं! बली निर्बल को नहीं दबा रहे? अपने अपने दाव नहीं खेल रहे? स्वतन्त्रता के नाम पर क्या कुछ अत्याचार नहीं हो रहा? इधर यह होता रहेगा और उधर ईश्वर भी दण्ड देने की तैयारी कर रहे होंगे जब तक मिश्र राष्ट्र के लोग नहीं समझेंगे, संसार की निर्बल जातियों पर अन्याय करते रहेंगे तब तक ईश्वर भी युद्ध तथा अन्य अकल्पित उपायों से दंड देते रहेंगे। "युरोपीय राष्ट्रों की सैकड़ोंवर्षों की कमाई पाँच वर्षमें पट हो गई।" "जापान की जन्मभर की गाढ़ी कमाई एक घंटे के भूचाल या भूडोल में चौपट कर डाली। जैसे बड़ी बड़ी आन्धियों से बड़े बड़े उपद्रव हो जाते हैं और उन्हीं से संसार के रोग भी जाते हैं। इसी प्रकार युद्ध की दशा है। युद्ध प्रथा को कोई मिटा नहीं सकता।

कोई कोई विजय बहुत मंहगे पड़ते हैं और कोई कोई पराजय बहुत सस्ते पड़ते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि कोई कोई विजय नामके विजय होते हैं और भावी पराजय की भूमिका के रूप में आते हैं। कोई कोई पराजय सस्ते इसलिये हैं कि उन पराजयों में भावी विजय का सूक्ष्म स्वरूप विद्यमान रहता है। विजय-पराजय की इस दुर्ज्ञेय मीमांसा का विवरण करना लेखक का मुख्य उद्देश नहीं-केवल प्रासङ्गिक उल्लेख मात्र है। संसार में युद्ध, जय और पराजय का चक्र बराबर

चलता रहेगा। यह ईश्वरीय नियम है। यह लक्ष्मी मद, राज्य मद आदि रोगों का रामबाण उपाय है। ऐश्वर्यमत्त पुरुषों के नेत्रों में अञ्जन डालने की अव्यर्थ ओषधि है। युद्ध से हानियाँ भी हैं इनसे इन्कार नहीं हो सकता। पर हानिलाभ का निर्णय परिणाम पर दृष्टि डाल कर होना चाहिये, केवल तात्कालिक परिणाम पर दृष्टि डालकर नहीं महाभारत का महायुद्ध ईश्वरीय नियम के अनुकूल विशेष उद्देश्य से हुआ और यह अपना शिक्षा संसार में छोड़गया।

ये आत्मायें गईं कहाँ ?

भारतवर्ष में फिर कभी ऐसा महाभारत होगा या नहीं कह नहीं सकते। उन शूर वीर, गम्भीर राजा महाराजाओं की आत्मायें कहां विचर रही होंगी जान नहीं सकते। भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य, पाण्डव, कौरव किस लोक को अलंकृत कररहे होंगे इसकी कल्पना भी नहीं होसकती। श्रीकृष्णजी न जाने किस लोक का उद्धार कर रहे होंगे ? इन आत्माओं को कुरुक्षेत्र, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, आर्य्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त, एवं समस्त भारतवर्ष यादआता होगा या नहीं कौन जानता है? आज पाँचहज़ार वर्ष बीतगये ये आत्माएँ गईं कहाँ ? जिस आधे राज्य के लिये पाण्डवों ने इतना घोर संग्राम किया उनको इस भारतवर्ष की याद क्यों नहीं आती ? भाइयों के साथ ही सिर टकराकर मरनेवाला दुर्योधन आज दूसरों के साथ अपना हेकड़ापन जतलाने के लिये भारतवर्ष में क्यों नहीं है? और इनका तो कोई वायदा भी नहीं था, श्रीकृष्णजी को क्या हुआ जो अपना वचन भूलगये। सच पूछाजाय तो इस समय भारतवर्ष को कृष्ण की ही अत्यावश्यकता है। इस भयङ्कर "विषादयोग" के अवसर पर उज्ज्वल कर्मयोग द्वारा भारतवर्ष को चेतन करने

की शक्ति एक उसी में है। काश! कि आज कृष्ण यहाँ होते? काश! कि आज वैसा ही महाभारत होता। महाभारत आपस में नहीं किन्तु अन्यों से। काश! कि वैसाही गीतोपदेश होता, वैसे ही युद्ध के शङ्ख फूँकते, फिर शायद पृथ्वीतल से अन्याय और अशान्ति का भार चिरकाल के लिए हलका हो सकता।

महाभारत से शिक्षा।

महाभारत से एक उत्तम शिक्षा मिलती है और यदि भारतवर्ष इस शिक्षा को सम्मुख रखकर काम करे तो वह अब भी सफल हो सकता है। विदुर के शब्दों में वह शिक्षा यह है—

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं।
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः॥
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति।
न वै भिन्ना प्रशमं रोचयन्ति॥
न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं।
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्॥
भिन्नानां वै मनुजेन्द्रपरायणं।
न विद्यते किञ्चिदन्यद् विनाशाद्॥

(उद्योगपर्व–३६–५६, ५७)

फूटैल लोग धर्म नहीं कर सकते। उनको इस लोक में सुख नहीं मिल सकता, गौरव तो उनके नसीब में कहाँ, उनको शान्ति कहाँ? हितकी बात उनको नहीं सुहाती, वे रोटी के टुकड़े टुकड़े के लिये मोहताज रहते हैं। फूटैल लोगों का तो नाश ही होता है, और हो भी क्या?

क्या भारतवर्ष की ऐसी दशा नहीं है ? जब भारतवर्ष में 'धर्म' को ढकोसला समझनेवालों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जातीहै तब उसकी ऐसी दुर्दशा हो तो आश्चर्य हीक्या है? महाभारत का वृत्तान्त सुनाने के पश्चात् सौति ऋषिने क्या ही मार्मिक वचन कहे हैं—

"मैं हाथ उठाकर चिल्ला चिल्ला कर कहरहा हूं पर ज़माना ऐसा आगया है कि कोई सुनताही नहीं। भाइयो! 'धर्म' पर आरूढ़ रहने से ही तुम्हारे सब मनोरथ सिद्ध होंगे तब तुम उसी 'धर्म' पर क्यों नहीं चलते" —

भारतवर्ष यदि इस तत्व को समझ कर चलेगा तो उसकी यह दीनता, हीनता व अनन्यगतिकता नष्ट होकर वह पूर्ववत् स्वतन्त्र होकर सुखधाम बन सकेगा क्योंकि—

'यतो धर्मस्ततो जयः'

जिधर धर्म होगा उधर ही जीत होगी।

"जो दृढ राखै धरम की तेहि राखे करतार"

युधिष्ठिर को राज्याधिकार कैसे पहुंचता था?

चित्र संख्या १

१—सोम
पाँचवीं पीढ़ी ५—नहुष
छठी पीढ़ी ६—ययाति

ययाति+देवयानी — यदु (ज्येष्ठ) यदु शाप भ्रष्ट हुआ; और चार पुत्र

ययाति+शर्मिष्ठा — सातवीं पीढ़ी ७-पुरु (कनिष्ठ) पुरु को राज्य मिला

७-पुरु
आठवीं पीढ़ी ८-प्रतीप

- देवापि (कुष्ठी था, वन को चलागया)
- वाल्हीक (ननसाल चला गया)
- ९-शान्तनु (राज्याधिकारी हुआ)
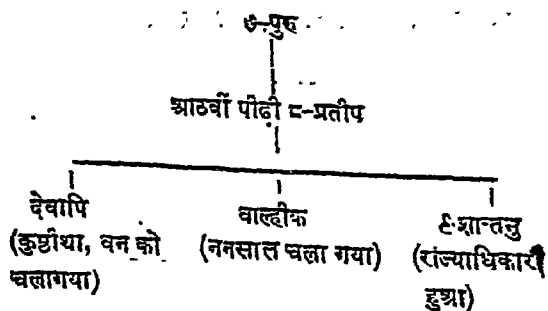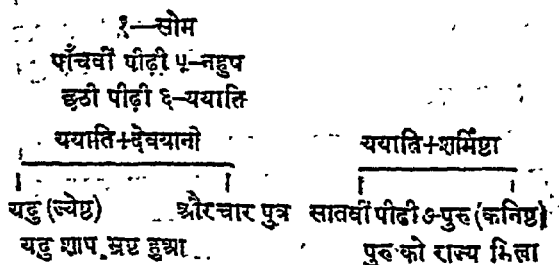
चित्र संख्या २

गङ्गा+शान्तनु — सत्यवती+शान्तनु

भीष्म (आजन्म ब्रह्मचारी)

१०-विचित्रवीर्य (राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर मर गया)

विचित्रवीर्य की दो स्त्रियाँ थीं—व्यास जी से नियोग

बड़ी से नियोग द्वारा — छोटी से नियोग द्वारा — दासी से

धृतराष्ट्र (अन्धा था अतः अधिकारी नहीं था)

११-पांडु (राज्याधिकारी)

विदुर (दासी पुत्र होने से अनधिकारी)

दुर्योधनादि १०१ भाई

१२-युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव राज्याधिकारी)

चित्र संख्या ३

द्रौपदी+पाँचों पाँडव

युधिष्ठिर	भीम	अर्जुन	नकुल	सहदेव
।	।	।	।	।
शतानीक	सुतसोम	श्रुतकीर्ति	शतानीक	श्रुतकर्मा

(यह सब सौप्तिकपर्व में समाप्त हुए)

अर्जुन+सुभद्रा

।

अभिमन्यु+उत्तरा

।

१३-परीक्षित्

।

१४-जनमेजय

०

।

०

यह राज्य युधिष्ठिर का ही है।

भीष्म दुर्योधन के प्रति कहते हैं—

अन्धः करणहीनत्वान्न च राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥
स राजा, तस्य ते पुत्राः, पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात ! कलहं कार्षीः राज्यस्यार्द्धं प्रदीयताम् ॥
(उ० १४७-३६, ४०)

तेरा पिता अन्धा है इसलिये राजा नहीं, राजा तो पाण्डु है जिसको सब जानते हैं। वह राजा है और युधिष्ठिरादि ये उसके पुत्र हैं और हक़दार हैं। इसलिये झगड़ा मत करो। आधा राज्य उनको देदो।

द्रोण दुर्योधन के प्रति कहते हैं—

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यः राज्यार्द्धमरिकर्शन ।
सममाचार्यकं तात ! तव तेषां च मे सदा ॥
अश्वत्थामा। यथा मह्यं, तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन, यतो धर्मस्ततो जयः ॥

प्यारे ! पाण्डवों को आधा राज्य देदो। मैं तो तुम्हारा और पाण्डवों का समान रूप से ही आचार्य हूं। जैसे मेरे लिये अश्वत्थामा है वैसे ही अर्जुन भी, बहुत क्या कहूं। जिधर धर्म होगा उधर की ही जीत होगी।

(उ० १४८-१५, १६)

गान्धारी दुर्योधन के प्रति—

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणाम्,
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः। (उ० १४८)

अधिकार के अनुसार ही धर्मपुत्र युधिष्टिर इस राज्य का शासन करे।

धृतराष्ट्र दुर्योधन के प्रति—

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः, कनीयानपि सन्नृप।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिन्दम॥
मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी, परस्वं हर्तुमिच्छसि॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा।
न्यायागतं राज्यमिदं हि तस्य॥
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता।
प्रशासिता चैव महानुभावः॥

(उ० १४६-२० ३१, ३२)

पाण्डु मुझसे छोटा था तो भी शास्त्रानुसार उसको राज्य मिला। अब जब कि वह परलोक वासी हुआ तो राज्य उसके पुत्रों का ही है। मेरे जैसे अभागी के होते हुए तू राज्य की लालसा क्यों कर रहा है तू राजा का लड़का नहीं इसलिये स्वामी भी नहीं, दूसरे के धन को लेना चाहते हो। न्यायागत राज्य महात्मा युधिष्टिर का ही है। वही कौरवा का पालन पोषण करनेवाला और शासक है।

विदुर धृतराष्ट्र के प्रति—

क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्रः
तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुंक्ष्व।

युधिष्टिर क्षात्रधर्म से डिगता जाता है उसको राजधर्म में लगाओ।

८ कृष्ण दुर्योधन के प्रति—

प्रसीद, त्यजमात्मानं तुभ्यं सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां, यशो धर्ममवाप्नुहि ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषाँ, ततः सुखमवाप्स्यसि ।
(वनपर्व ७४)

पाण्डवों को राज्य देकर यश और धर्म दोनों ले लो इनका पैतृक राज्य इनको देदो, फिर सुख मिलेगा ।

चित्र संख्या ४

महाभारत की सेना ।

अठारह अक्षौहिणी ।

पाण्डव—७ अक्षौहिणी	कौरव—११ अक्षौहिणी
सात्यकि—१	भगदत्त—१
धृष्टकेतु—१	भूरिश्रवा—१
जयत्सेन—१	शल्य—१
पाण्ड्य—१	कृतवर्मा—१
द्रुपद—१	जयद्रथ—१
विराट—१	सुदक्षिण—१
तथा मिश्रित—१	विन्द—१
	अनुविन्द—१
योग=७ अक्षौहिणी	पाँच केकय—१
	भिन्न भिन्न—१
	योग=११ अक्षौहिणी.

इस महाभारत के युद्धमें लगभग ४००००० रथ, ४००००० हाथी, १०००००० घोड़े २०००००० योधा काम आये। केवल अठारह दिन के घोर युद्ध में इतनी हानि देखते हुए कहना पड़ता है कि पांचवर्ष तक लगातार होनेवाले युरोपीय महाभारतसे भारतीय महाभारत अधिक उग्रस्वरूप का हुआ।

—०—

अक्षौहिणी सेना का प्रमाण भिन्न भिन्न मिलता है—नमूने के लिये एकही प्रमाण देते हैं—महाभारत आदिपर्व अ०२, श्लोक २३ से २७

अक्षौहिण्यः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः।
संख्यागणिततत्त्वज्ञैः, सहस्राण्येकविंशतिः ॥१॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ, तथा भूयश्च सप्ततिः।
गजानां च परिमाणमेतदेव विनिर्मितम् ॥२॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु, सहस्राणि नवैव तु।
नराणामपि पञ्चाशद्, शतानि त्रीणि चानघ॥३॥
पञ्चषष्टिः सहस्राणि, तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् प्राहुः, यथावदिह संख्यया॥४॥
एतामक्षौहिणीं प्राहुः, संख्यातत्त्वविदो जनाः।
यथावत्कथितवानस्मि, विस्तरेण तपोधनाः ॥५॥

—०—

युद्ध कैसे आरम्भ होता है ?

प्रतिघातेन सांरम्भ्य, दारुणं संप्रवर्त्तते।
तच्छुनामिव संपाते, पण्डितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥
लाङ्गूल चालनं क्ष्वेडा, प्रतिवाचो विवर्त्तनम्।
दन्तदर्शनमारावः, ततो युद्धं प्रवर्त्तते ॥ ७१ ॥

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तत्रामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु, विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥
सर्वथा त्वेतदुचितं, दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरो विरोधश्च, प्रणिपातीह दुर्बलः ॥ ७३ ॥

(उद्योगपर्व अ० ७२)

जैसे कुत्ते आपस मे लड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी, दोनोंमें कुछ भी विशेष नहीं । कुत्ते पूँछ चलाते हैं, गुर्राते हैं भौंकते हैं, दाँत दिखाते हैं दाँत पीसते है, फिर परस्पर काटने को दौड़ते हैं । इसीप्रकार जब मनुष्य आपसमें लड़ते हैं तब पहले ललकारते हैं, गरजते हैं, दाँत पीसते हैं, एक दूसरे पर टूट पड़ते हैं । कुत्तों में जैसे बलवान् दुर्बल का मांस खाता है इसी प्रकार मनुष्योंमें भी सबल निर्बल को दबालेता है । बलवान् जो दुर्बलों का अनादर व विरोध करते हैं यह उचित ही है । संसार में दुर्बल तो गिरने के लिये ही है ।

धर्मयुद्ध ।

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरोजनः ।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद्धर्मनिश्चयः ॥

(भीष्म.-उद्योगपर्व १०)

सीधेके साथ सीधे उपायोंसे और मायवी के साथ मायीयुद्ध की रीति से लड़ना चाहिये-यही धर्म है

"आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान्"

(अर्जुन)

हम तो शत्रुओंको शरल युद्धसे ही जीत लेंगे ।

पांडव सेना को नष्ट करने का अपना अपना अनुमान

भीष्म—एकमासमें नष्ट कर डालूंगा
द्रोण— „ „ „ „

कृप—दो मासमें ... ...
अश्वत्थामा—दस दिनमें ... ...
कर्ण—— पाँच दिनमें ... ...

—०—

अनुभूमिका.
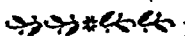
गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है जिसमें उपनिषदों का सार ऐसी उत्तमता से दिखाया गया है कि भविष्य में कोई ऐसा उत्तम सार निकाल सकेगा या नहीं कह नहीं सकते। वेद और ब्राह्मणों का सार है उपनिषद्, और गीता है सार उपनिषदों का। गीता क्या है? गीता "गागर में सागर" है। अमुक एक बात इसमें नहीं आई या अमुक एक धर्मतत्त्व इसमें रहगया—ऐसा नहीं हुआ। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रका मैदान तनातनीका प्रसङ्ग, अर्जुन जैसा शिष्य, योगिराज कृष्ण जैसा उपदेष्टा, महर्षि व्यास जैसे रिपोर्टर–फिर भी ऐसा अनुपम ग्रन्थरत्न उत्पन्न न होता तो कब होता? वर्त्तमान गीता को उज्ज्वल काव्यरूप देकर "संसारमें आर्यधर्म की महत्ता और गीता की अमरता स्थिर रखने वाले व्यास जी ही हैं।" रण क्षेत्रमें उतरने पर दोनों पक्षों के शङ्ख बजे, अर्जुन परिणाम दृष्टि डालकर घबराया, उसको मोह छागया, स्व कर्त्तव्य को भूलगया। श्रीकृष्णने सामयिक उपदेशसे उसका मोह दूर भगाया और फिर अर्जुन युद्ध के लिये उद्यत हुआ। उस समय कृष्ण व अर्जुन की कुछ देर बात चीत हुई—कुछ प्रश्नोत्तर हुए। वहाँ लम्बा चौड़ा उपदेश देनेका अवसर कहाँ था। थोड़ेसे समय

में तुले हुए शब्दोंमें कृष्ण ने अर्जुनको समझा दिया। जब बात चीत से वह न समझा तब एक बड़े निपुण जादूगर या संमोहन-शास्त्र-विशारद की भांति उसने अपना विराट स्वरूप दिखाया और अर्जुनको विश्वास होगया कि उसका सारथि केवल सारथिही नहीं किन्तु साक्षात् भगवान् है, ये जो कुछ कहते हैं ठीक ही कहते होंगे। फिर क्या था, अर्जुन ने फैंका हुआ धनुष उठाया और अड़ गया। इसी कृष्णार्जुन-संवाद को पीछेसे व्यासजी ने सुन्दर, प्रतिभाशाली काव्यरूपमें ढाला—जिसको देखकर पाश्चात्य विद्वान् भी चकित हैं।

गीता महाभारत ग्रन्थ का एक अंश है और महाभारतका सबसे उपयुक्त भाग होनेसे अथवा श्रीकृष्णके अर्जुन उपदेशसे थमता थमता युद्ध चल निकला इस कारण इस भागको अधिक महत्त्व मिला और आगे वह पृथक्रूपमें नित्यप्रति के पाठादि कर्म में आने लगा। कालान्तर में पृथक् लिखा जाकर घर की शोभा बढ़ाने का कारण हुआ—और इस प्रकार लाखों हस्त-लिखित गीताओं का प्रादुर्भाव हुआ। कालकी गतिसे जब मुद्रालयों का समय आया तबतो सुन्दर गुटकों के रूप में प्रत्येक हिन्दू के घरमें, अँगरेज़ी पढ़े लिखे बाबुओं के जेबोंमें यह गीता रहने लगी इस गीता पर सैकड़ों टीकाएँ छपीं, पचासों भाष्य बनगये और न जाने कितने औरबनेंगे। श्रीशङ्कराचार्य के समय से लेकर बराबर २२०० वर्षसे अबतक 'गीता' को 'अनेक' रूप मिलते गये। 'शङ्करने' अद्वैत में रंगा, 'रामानुजाचार्य' ने विशिष्टाद्वैत में रंगा, 'माधवाचार्य' ने द्वैतमें रंगा, निम्बार्काचार्य' ने इसीमें द्वैताद्वैत देखा, "स्वा० रामदास समर्थ" ने इसी गीता के बलपर 'दासबोध' की सृष्टि की, 'ज्ञानेश्वर' महाराज ने ज्ञानेश्वरी लिखडाली और संसार को चकित करदिया

स्वर्गीय "लोकमान्य तिलक" ने 'गीतारहस्य' द्वारा प्राचीन भावों को नव्य रूपमें ऐसी कुशलता से प्रकट किया कि उसकी प्रशंसा कोई कहाँ तक करे—

गीता के उपदेष्टा का जन्म कारागार में हुआ, 'गीता रहस्य' के लेखक की आयुका बड़ा भाग भी कारागार में गया —'गीतारहस्य' कारागार में ही लिखा गया। गीता का महत्त्व भी शायद जेल में जाकर ही समझ में आता है-इसी गीता ने सैकड़ों एवं सहस्रों देशभक्तों को कारागार में सुख पहुंचाया, मानसिक शान्ति द्वारा उच्च भावनाएँ उत्पन्न कीं। श्रीकृष्णजी की आज्ञा है कि जो कुछ करो मेरे अर्पण करते जाओ-बस हमभी अपनी इस तुच्छ भेंट को उन्हीं के अर्पण करते हैं- उन्हीं से सीखा, उन्हीं को सुनाते हैं। उन्हीं से लिया है, उन्हीं को देते हैं-भगवान् हमारे इस अल्प स्वल्प प्रयत्न से सन्तुष्ट हों और उनका वरद हस्त सदा हमारे मस्तक पर बनारहे-शम्-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

श्रीनरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ

ॐ तत्सत्

कृतज्ञता-प्रकाशन।

निम्नलिखित ग्रन्थों से हमको बहुत सहायता मिली है-

१-महाभारत सम्पूर्ण (मदरास-संस्करण)
२-गीता की अनेक संस्कृत टीकाएँ और प्राचीन संस्कृत भाष्य (शङ्करभाष्य, रामानुजभाष्य-इत्यादि)
३-दासबोध (मरहटी)
४-दासबोध (हिन्दी)
५-गीतारहस्य (स्व० लोकमान्य तिलक)
६-महाभारतोपसंहार (मरहटी) रावबहादुर वैद्य एम० ए० एल० एल० बी०
७-कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ टगोर के साधन आदि ग्रन्थ।
८-डॉ० एनी बीसण्ट—अंङ्गरेजी टीका
९-बा० विपिनचन्द्रपाल के पुराने लेख (अङ्गरेजी)
१०-श्री० अरविन्द घोष के उपनिषद्- भाष्य (अङ्गरेजी)
११-आर्यसामाजिक परिडतों के हिन्दीभाष्य।
१२-ज्ञानेश्वरी (मरहटी तथा हिन्दी भाष्य)
१३-संत तुकाराम के अभंग (मरहटी)
१४-मि० मार्सडेनके "आप्टिमिस्टिक लाइफ" आदि ग्रन्थ।
१५-ट्राइन के ' ट्यून-इन दी इनफिनिट' आदि अनेक ग्रन्थ।
१६-दशोपनिशद् भाष्य।
१७-'हिस्टरी ऑफ दी फिलौसफी'-आदि अङ्गरेजी दार्शनिक ग्रन्थ।

१८—'लाइट ऑफ एशिया' आदि अनेक अङ्गरेजी ग्रन्थ।

१६—ला० कन्नोमल एम्० ए के 'गीतादर्शन' आदि ग्रन्थ।

इत्याद्यनेक पौरस्त्य व पाश्चात्य विद्वानों के मतको समझ कर सारासार विचारसे बहुत सरल रीतिपर यह ग्रन्थ लिखा गया है। 'प्रायेण त्रुट्यन्ति हि ये लिखन्ति' इस न्यायसे भ्रमवश कहीं समझने व लिखने में भूल रह गई हो तो सज्जन जन सुधार लेंगे व मुझे सूचना देंगे मैं कृतज्ञ हूंगा।

'सर्वः सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति, ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित्॥ (ऋतुपर्णः)

श्री रायबहादुर पं० घनानन्द जी खंडूडी देहरादून
श्री दीवान बहादुर विश्वेश्वर नाथ सी. आई. ई. देहरादून
श्री पं० विश्वम्भरदत्त जी चन्दोला सम्पादक गढ़वाली देहरादून
श्री पं० राधावल्लभ जी उत्तर काशी
श्री डा. मनजीत सिंह जी बी. ए. एम्. एल. सी. देहरादून
श्री पं० अमरनाथ जी औदीच्य वैद्य शास्त्री वनस्पति औषधालय देहरादून
श्री चौ. हुलास वर्मा जी भारतीय प्रेस देहरादून
श्री बाबू नारायणदास जी भार्गव स्टैन्डर्ड फरनीचर मरचण्ट देहरादून
श्री पं० निरन्तरदेव शर्मा जी वैद्य देहरादून
श्री लाला अनिरुद्ध कुमार जी रईस, देहरादून
श्री डा. केदारनाथ जी प्रधान आर्यसमाज देहरादून
श्री ला. शंकरलाल जी देहरादून
श्री ला. शिवलाल दास जी (भोगपुर)
श्री. भगीरथ शास्त्री, गुरुकुल थानेसर

श्री. सेठ शिवलाल जी उस्मानाबाद
श्री पं०शङ्करदत्त जी शर्मा मुरादाबाद
श्री पं० बद्रीदत्त जी जोशी. काशीपुरनिवासी
श्री पं० ज्वालाप्रसाद शुक्ल डी. ए.वी. स्कूल देहरादून

इन सब महानुभावों का मैं कृतज्ञ हूं-इन महाभागों ने जैसा जिस से बना किसी ने स्थान द्वारा, किसी ने तनद्वारा किसी ने धन द्वारा. किसी ने ध्यान द्वारा, किसी ने परामर्श द्वारा, किसी ने विविध उपकरणों द्वारा. मुझको सहायता पहुंचाकर मेरा उत्साह बढ़ाया जिसके बिना ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य कठिन होजाता सबसे अधिक कृतज्ञ हूं गुरुवर श्री १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज आचार्य म० वि० ज्वालापुर का जिन की कृपा से मुझे महाविद्यालय से अवकाश मिला, वहाँ के कार्य से छुट्टी न मिलती तो मुझे गीता विमर्श को दुबारा लिखने व प्रकाश न करने का इस जन्म में तो अवसर न मिलता।

विनम्र—

श्रीनरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ

समर्पण ।

(१)

आर्यसमाज संस्थापक

पुण्यश्लोक स्व० श्री० १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य

श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज

(२)

राष्ट्रसूत्रधार, कर्मयोगी

स्व० श्री० लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक

(३)

तथा

सत्याग्रह के परम उपासक,

वर्त्तमान युग के अहिंसा के अवतार,

असहयोग प्रवाह के प्रवर्त्तक

श्री० महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी

तथा

क्रिमिनिल ला अमेण्डमेण्ट

एक्ट १६०८ ए० डी० के समर्पण—

श्री नरदेव शास्त्री

गीता का सार ।

ॐ (गी० ८-१३, २४)	तत् (गी० १७-२५)	सत् (गी० १७-२६, २७)
सब सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने वाला तीनों लोकों का स्वामी परमात्मा है जिस को पुरुषोत्तम कहते हैं । उसी की उपासना करो । ॐ परमात्मा का श्रेष्ठ नाम है ।	यह जो तुम कर्म करते हो उसको उसी परमात्मा के अर्पण करते रहो । अथवा कर्म फल में आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहो जिससे तुम पाप-पुण्य, सुख दुःख आदि से अलिप्त रहोगे ।	सत्कर्मों को सदैव करते रहो । अश्रद्धा से किया हुआ, दिया हुआ । तपा हुआ, सब असत् है । ब्रह्मवादी पुरुष उस ॐ परमात्मा का स्मरण करके सदैव सत्कर्म किया करते हैं । फल की वासना छोड़कर सत्कर्म करते रहने से मोक्ष मिल सकता है या ध्यानयोग द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है ।

ज्ञानयोग — कर्मयोग

मोक्ष

"कर्मयोग ज्ञानयोग को ही साधता है, ज्ञान योग आत्म-दर्शन को साधता है इसलिये दोनों का एक ही फल है—इन दोनों योगों को पृथक् बतलाने वाले लोग पण्डित नहीं हैं"

(गीता भाष्य ५-४)

रामानुजाचार्य

—*—

तदिदं, वेदवचनं, कुरु, कर्म, त्यजेति, च,

(शौनक-युधिष्ठिर संवाद, वनपर्व २-७२)

यह वेद का वचन है कि कर्म करो और फल को छोड़ दो।

उभयं, वेद वचनं, कुरु कर्म, त्यजेति च।

कर्मों को करो और छोड़ो भी—

(युधिष्ठिरार्जुन संवाद-शान्ति पर्व १९-१)

—x—

पूर्वप्रसंग

ॐ तत्सत्

पूर्वप्रसङ्ग
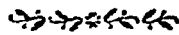
(ॐ तत्सत्)

पूर्व-प्रसंग

गीता का लेखक कौन है ?

(१)

भारते सर्ववेदार्थो, भारतार्थश्च कृत्स्नशः ।
गीतायामस्ति तेनेयं, सर्वशास्त्रमयी कृता ॥
इयमष्टादशाध्यायी, क्रमात् षट्कत्रयेण हि ।
कर्मोपास्तिज्ञानकाण्ड त्रयात्मा निगद्यते ॥

(नीलकण्ठः)

नीलकण्ठ पण्डित कहते हैं कि महाभारतमें सब वेदों का अर्थ भरा हुआ है, और सब भारतवंश का इतिहास भी आगया है और गीता सब महाभारतका सार है इसलिये सब वेदशास्त्रोंका सार गीतामें आगया है। इसके अठारह अध्यायोंमें प्रथम छः अध्याय कर्मकाण्ड के द्योतक, द्वितीय छः अध्याय उपासना काण्ड के द्योतक व सबसे पिछले छः अध्याय ज्ञानकाण्डके द्योतक हैं—

कर्म—उपासना—ज्ञान यही क्रम है।

समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मयमें महाभारत ग्रन्थ का अत्यन्त श्रेष्ठत्व मानागया है, उस महाभारतमें भी गीता सर्वोत्तम भाग है। मूल महाभारत ग्रन्थ जिस दिव्य महापुरुष की प्रतिभासे उत्पन्न हुआ उसीकी उत्कट प्रतिभासे गीताभाग उत्पन्न हुआ है, इसमें लेशमात्रभी सन्देह नहीं है। मूलमहाभारत के रचयिता "महर्षि व्यास हैं"—उनके पश्चात् उनके शिष्य 'वैशम्पायन' ने उसमें वृद्धि की और उसके पश्चात् 'सौति' ने

उसीमें बहुतसा अनुरूप भाग मिलाकर यह महाभारत तैयार किया जो कि आजकल एकलक्षात्मक ग्रन्थरूप प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि व्यास जी का मूल महाभारत + वैशम्पायन का महाभारत × सौतिका महाभारत=वर्त्तमान महाभारत ग्रन्थ है। इसमें यह सन्देह होसकता है कि जब असली महाभारतका स्वरूप ही और होगया तब 'गीता' कोभी वैशम्पायन सौति या अन्य किसी व्यास शिष्य की कृति क्यों न माना जावे? इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि उस गीता का क्रम, पदलालित्य, सुसंगतता, काव्यस्फूर्त्ति आदिपर दृष्टि डालनेसे ज्ञात होसकता है कि व्यासकी प्रतिभा से ही गीता बनी है।

कुरुक्षेत्र की रणभूमिमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो अलौकिक उपदेश दिया था,उसी को व्यासजीने अनुपम रूपमें प्रकट कर महाभारत गीता, गीतोपदेश उसके साथ समस्त भारतवर्ष के "गौरव को अमर करदिया।"

महाभारतयुद्ध के पश्चात् जब सर्वत्र शान्ति छागई तब किसी समय अर्जुन ने श्रीकृष्णजी से प्रार्थना की थी कि युद्ध समय में जो उपदेश दिया था उसको फिर सुनाइये। तब श्रीकृष्णने कहा,—

> "परं हि ब्रह्म कथितं, योगयुक्तेन चेतसा।
> न शक्यं तन्मया भूयस्तथावक्तुमशेषतः॥
> स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
> न 'स चाद्य पुनर्भूयः, स्मृतेमें संभविष्यति॥"

"—हे अर्जुन योगयुक्त चित्तसे उस समय मैंने जो कुछ कहा था उसको ठीक उसी प्रकार अब कहना असम्भव है, न मुझे वैसी स्मृति ही होसकती है।"—कृष्ण भगवान का यह कथन अक्षरशः ठीकहै, प्रत्येक समय प्रत्येक बातके लिये अनुकूल नहीं पड़ता। युद्ध के मैदानमें आडटनेपर अर्जुनको

विषाद उत्पन्न हुआ । उससमय श्रीकृष्ण जैसे योगीही अर्जुनके विषाद को हटा सकते थे । गीताके "विश्वरूप दर्शन में तो कृष्णने पराकाष्ठा करदी है या यूं ही कहिये गीतामें ठीक प्रसङ्गपर विश्वरूप दर्शन के अध्यायको देकर व्यासने अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा अदृष्टपूर्व काव्यशक्तिका परिचय दिया है। यह विश्वरूपदर्शन न मिलता तो शायद अर्जुनको विश्वासही न आता कि उसका सारथि गोविन्द कितना शक्तिशाली है । और इसी विश्वरूपदर्शन के कारणही अर्जुनका सन्देह जातारहा और विश्वास होगया कि संमुख आए हुए आततायी लोगोंको (चाहे गुरु आदि कोई हो) मारने से पाप नहीं होगा और क्षात्रधर्मके अनुसार उनको मारनाही उसका परम कर्त्तव्य है । उसको यह भी विश्वास होगया कि उसका सारथि गोविन्द ही सब सृष्टिका कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता है, उसीकी आज्ञामें चलने से कल्याण होगा।

कतिपय पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों का मत है कि 'गीता' के बीचके कतिपय अध्याय पीछेसे मिलायेगये हैं और पन्द्रहवाँ अध्याय तो सर्वथा प्रकरण विरुद्ध प्रतीत होता है उसकी संगतिनहीं बैठती इत्यादि । परन्तु मर्मज्ञ पण्डितोंका वक्तव्य यह है कि पन्द्रहवाँ अध्याय सब से उत्तम है और उसीसे वासुदेव के उपदेशों का मर्म खुल जाता है । भगवद्गीता का प्रत्येक प्रकरण इतना सुसम्बद्ध है कि उसमें अनृत, व्याघात, पुनरुक्त इन तीन दोषों का पताही नहीं,तब न जाने पन्दरहवें अध्याय को असंगत क्यों कहा जाता है । असंगत कहनेवाले व गीतामें पीछेकी मिलावट बतलाने वाले भूलते हैं, शिष्य-प्रशिष्य उपशिष्य परम्परासे गीताके श्लोक व्याससे वैशम्पायन, वैशंपायन से सौति इसप्रकार अक्षरशः वर्त्तमान महाभारत ग्रन्थमें आयेहैं-

आन्तरिक व बाह्य सुपुष्ट प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जासकता है। समस्त गीतामें धृतराष्ट्र का १ संजयके ४१ अर्जुनके ८५ श्री कृष्णके ५७३ इसप्रकार सब ७०० श्लोक हैं उसमें न कहीं विरोध है न विसंगतता है। हाँ एक श्लोक भगवद्गीतापर्व में आया है, उसमें धृतराष्ट्र का १ अर्जुन के ५७ संजय के ६७ श्रीकृष्ण के ६२० इसप्रकार ७४५ श्लोक बतलाये हैं। वह श्लोक यह है—

> षट्शतानि सविंशानि, श्लोकानां प्राह केशवः।
> अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्, सप्तषष्टिस्तु सञ्जयः॥
> धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं, गीताया मानमुच्यते॥

बहुत खोज करने पर भी अनेक गीताओं के देखने पर भी हमको ७४५ श्लोकों वाली गीता नहीं मिली, हां गीता के साथ गीता माहात्म्यादि मिलाकर कोई ७४५ श्लोक पूरे करें तो और बात है। मूल गीता ७०० श्लोकों की है।

महाभारत-'उपसंहार' के लेखक श्री 'चिन्तामणि विनायक वैद्य' एम्० ए० एल० एल० बी' कहते हैं कि "गीता यह एक सुविशाल सुबद्ध, सुरम्य मन्दिर है। इसकी सुन्दर भव्य आकृति व रचनाशैली को देखकर कहना पड़ता है कि इसका बनाने वाला एक ही कारीगर है। छतें, खम्बे, दीवारें, कोने आदि जिसको चाहे देखिये, सब एक ही दिमाग़ का काम दीख रहा है।

"न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह" (२—९)

"मैं नहीं लड़ूँगा ऐसा श्रीकृष्ण से कहकर अर्जुन चुप हो गया"—यह उस गीता भवन की 'नींव' है। ग्यारहवें अध्याय का विश्वरूपदर्शन उस का 'मध्यभाग' है। 'करिष्ये वचनं तव' (१८—७३) "मैं तेरे वचनानुसार करूंगा" यह उस भवन की 'चोटी' है। सांख्य, योग, वेदान्त, भक्ति, ये इस भवन के

चार कोनों के चार 'मीनार' हैं। चहुं ओर सुन्दर दीवारों पर सुन्दर सुन्दर अक्षरों में 'तत्त्वज्ञान' लिखा हुआ है और इस भवन की चार दीवारी में 'परब्रह्म' एकत्रित कर रक्खा है।" इस ग्रन्थ का कर्त्ता महाबुद्धिमान् व्यासजी को छोड़ अन्य कौन हो सकता है ?

समस्तकथन का तात्पर्य यह हुआ कि—

१-गीता का उपदेष्टा—श्रीकृष्ण भगवान् है

२-उपदेश को प्रतिभाशाली काव्य का रूप देने वाले—महर्षि व्यास हैं—

३-महर्षि व्यासोक्त गीता काव्य गुरुशिष्य परम्परा से शुद्ध स्वरूप में अबतक चला आया है।

४-इसमें दृत व्याघात, पुनरुक्त आदि दोष नहीं हैं।

५-किसी प्रकार की मिलावट नहीं है।

६-महाभारत में 'गीताभाग' सबसे उत्तम है।

७ इसमें सब वेदशास्त्रों का सार आगया है।

८-गीता के कारण भारतवर्ष का गौरव अमर होगया।

९-गीता का उपदेश न होता तो शायद 'अर्जुन' युद्ध में प्रवृत्त न होता।

१०-अर्जुन के सदृश विषाद (उदासी) उत्पन्न होने पर 'गीता' ही उस विषाद को दूर कर सकती है। इस दृष्टि से 'गीता' वर्त्तमान समय तथा भविष्य में भी संसार को मार्ग दिखलाती रहेगी।

कोई कहते हैं कि महाभारत इतिहास का ग्रन्थ है, भला इसमें 'गीता' जैसे तत्त्वज्ञान का क्या काम ? किसी ने पीछे से घुसेड़ दिया होगा। भला कुरुक्षेत्र के रण में तत्त्वज्ञान का समय था कि युद्ध का ? भला उस गड़बड़ में गीतोपदेश के

लिये श्रीकृष्ण को व गीताश्रवण के लिये अर्जुन को समय ही कहाँ मिला होगा? यह मिलावट सौति की ही है। इत्यादि

भला, इन भलेमानसों को यह ज्ञात नहीं कि भगवद्गीता का असली प्रारम्भ निम्नलिखित श्लोक से होता है—

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूँश्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः"(२—११)

यह है श्रीकृष्णवाक्य। जिस अर्जुन ने युद्ध में शत्रुओं को परास्त करने के लिये बारह वर्ष तक घोर वनवास लिया और कठिन तप तपा, देवों को प्रसन्न करके सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र प्राप्त किये, जिस अर्जुन के भरोसे पर सब पाण्डव वनवास व अज्ञातवास के कष्टों को सह चुके वही अर्जुन ठीक रणक्षेत्र में आकर उदास होगया यह आश्चर्य करने की बात है। कृष्ण को भी आश्चर्य हुआ कि अर्जुन यह क्या कर रहा है। अब कहता है कि 'दादा मरेंगे, बाबा मरेंगे, गुरु मरेंगे, आचार्य मरेंगे सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव सबका नाश होगा' इत्यादि। जब कृष्ण ने देखा कि अर्जुन हाथ पर हाथ धरकर बैठेगा तो संसार में बड़ा अपयश होगा और सब किया कराया जाता रहेगा, और इस उदासी का परिणाम देशपर व भावी सन्तानों पर भी बहुत बुरा पड़ेगा। अर्जुन क्षात्रधर्म से भाग रहा है इसको उभारना चाहिये। इत्यादि सोचकर श्री कृष्ण ने उसको उपदेश दिया और उस उपदेश का प्रारम्भ यहीं से है—इसी उपर्युक्त श्लोक से है। 'हे अर्जुन तू यह ज्ञानकी बातें इस समय ले बैठा, पण्डित लोग इन बातों को नहीं सोचते, जो शोक करने के योग्य न हों उनका शोक नहीं करते फिर तू क्यों अशोच्य बातों पर शोक कररहा है"—

निःसन्देह महाभारत इतिहास का ग्रन्थ है। पर हम पूछते हैं। कि 'युद्धस्व विगतज्वरः' (सन्देह छोड़कर लड़ो) 'माम-

नुस्मर युध्य च" (मुझको याद करो व लड़ो) इत्यादि वचन स्थान स्थान पर आये हैं क्या उनका युद्ध से सम्बन्ध-भारतीय युद्ध से सम्बन्ध-एवं महाभारत ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं है। विश्वरूपदर्शन में 'मया हस्तांस्त्वं जहि' (मेरे मारे हुओं को तू मार-खेद मतकर, खूब युद्ध कर, तुम अवश्य जीतोगे) यह जो कहा है इसका संबंध महाभारत से क्यों नहीं ? गीतान्त में श्रीकृष्णजी ने कहा है कि-

> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मम ।
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु" (१८—६३)

मैंने अत्यन्त गूढ़ ज्ञान बतला दिया है अब सोच समझ कर जैसा चाहो करो, तब अर्जुन ने उत्तर दिया है कि-

> नष्टोमोहः स्मृति र्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
> स्थितोऽस्मिगत सन्देहः करिष्ये वचन तव ॥ (१८-७३)

मेरा मोह भाग गया, कर्त्तव्यपथ याद आया, अब कोई सन्देह नहीं रहा अब तेरा कहा करूँगा। यह सब क्या है ? क्या इन वचनों का, उपदेशों का, अर्जुन के सन्देह निवारण का महाभारत से कुछ भी सम्बन्ध नहीं? महाभारत में है क्या? यही न कि कौरव पाण्डवों का इतिहास व युद्ध वर्णन ! बस जिस युद्ध वर्णन के लिये कौरव पाण्डवों की कीर्त्तिस्थापना के लिये श्रीव्यास जी ने महाकाव्य बनाया वह महाकाव्य कहां होता, यदि भगवान् उपदेश न देते, अर्जुन न उठता और युद्ध में न आ डटता ? इसलिये 'गीता' महाभारत ग्रन्थ ही का अङ्ग है और व्यास की बनाई हुई है। इस में श्रीकृष्ण का उपदेश स्पष्ट, सुन्दर, अनुपम रीति से ग्रथित किया गया है। दूसरी बात यह है कि महाभारत में से "नर-नारायण" दूसरे शब्दों में "वासुदेव-धनञ्जय" इन दो व्यक्तियों को निकाल दिया जाय तो बाकी रह ही क्या जाता है। असुरों ने

पृथ्वी पर आकर मनुष्यों में जन्म लिया था, पृथ्वीपर घोर उपद्रव होने लगेथे, तब ब्रह्माने विष्णुसे प्रार्थना की कि संसार में उथल पुथल हो रहा है मनुष्यों में जन्म लीजिये तब विष्णु ने मुसकराकर कहा कि 'ऐसा ही होगा' तब नर-नारायण दोनों "अर्जुन-कृष्ण„ के रूप में असुरों के वधार्थ आये इत्यादि सब बातों का ध्यान रखकर विचार किया जाय तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि महाभारत ग्रन्थ का प्रारम्भ ही गीता से है। अब रहा यह कथन, कि 'तत्वज्ञान' की इतिहास में क्या आवश्यकता? उत्तर यह है कि कुरुक्षेत्र में समस्त पृथ्वी के भूपाल परस्पर संहार की लालसा से एकत्रित हुए थे, पृथ्वी का नाश सामने दीख रहा था ऐसे समय में परिणाम पर दृष्टि डालकर सांसारिक मनुष्य की भांति अर्जुन हड़बड़ा गया तो आश्चर्य क्या? तब वासुदेव ने उस को तत्व ज्ञान व धर्म ज्ञान का तत्व समझाया तब अर्जुन का सन्देह दूर हुआ, तब फिर अर्जुनने गाण्डीव उठाया तब युद्ध चल पड़ा। यह सीधी साधी बात है पर लोग पूर्वापर सम्बन्ध को न जानकर गीता विषय में मनमाने आक्षेप करते हैं यह आश्चर्य का विषय है।

क्या रणक्षेत्र पर उपदेश देनेके लिये समय मिलसका?

(२)

लोगोंको बहुतही आश्चर्य होता है कि रणभूमि पर ऐसे तत्वज्ञान भरे उपदेश देनेके लिये श्रीकृष्णजी को अवकाश ही कहाँ मिला होगा? शास्त्रों की चर्चा, वेदोंका तत्व, सांख्य-योग-वेदान्त के सूक्ष्म सिद्धान्तों पर विचार करने का, कर्म-

धर्म की गहममीमांसा का, विश्वरूपदर्शन का यहाँ अवसर कहाँ था? श्री व्यासजीने अपनी दिव्य प्रतिभासे यह सब कुछ कृष्णार्जुन सवाद के रूप में महाभारत में रख दिया होगा।

हमारी समझमें इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है? लोग जब इसप्रकार की शङ्काएँ करते हैं तब वे वर्तमान युगके युद्धोंकी ओर दृष्टि डालकर करते हैं और विचार करना चाहिये उक्त समय का दृष्टिसे। उस समयके आर्यों की स्थिति, विनाशकालमें भी धर्मभाव, धर्मयुद्धकेनियम, आदि देखें और तो मानना पड़ेगा कि ऐसी बातों के लिये समयका मिलना असम्भव नहीं था। युद्धारम्भ में युधिष्ठिर का भीष्म, द्रोण, कृप, व शल्यके पास आशीर्वाद व अनुज्ञा के लिये जाना, जयोपाय या अन्य बातों को पूछना आदि बातों के लिये समय मिलगया तो क्या कृष्णार्जुन को बात चीत करने के लिये समय न मिलाहोगा युद्धभी एकदम आरम्भ नहीं हुआ; सबसे प्रथम शङ्ख बजे, इन शङ्खों का बजाना एक प्रकारसे परस्पर सचेत होजाने का संकेत था। इसके पश्चात् प्राचीन प्रथाके अनुसार शिष्टाचार हुए अर्जुनने भी सबसे पूर्व अपने बाण द्रोणाचार्य के पैरोंकेपास फेंककर अपने गुरुको प्रणामकिया था। फिर कुछ काल तक इधर के और उधर के महारथी एक दूसरे को निहारते रहे कि कौन कौन कहाँ कहाँ, किस किस रूप में खड़ा है; कौन आगे है कौन पीछे है, किस किस का रथ कैसा कैसा है कौन कौन उत्सुक है, क्या रङ्ग ढङ्ग हैं। फिर ललकारना प्रारम्भ हुआ। युद्ध के नियम परस्पर संमति से दोनों पक्षों ने स्थिर कर लिये थे; सब से प्रथम कौरवों की ओर से बाण छूटे, फिर पाण्डवों की ओर से छोड़े गये इसलिये कृष्ण का अर्जुन को समझाने के लिये बहुत अवसर

मिल सकता था। यह संवाद बात चीत के रूप में था,—श्लोक बद्ध नहीं था-जैसा कि अब गीता में देखा जाता है। व्यासजी ने उस संवाद को काव्यरूप में परिणत किया। सारांश कृष्णार्जुन संवाद का चित्र व्यास जी ने ऐसी कुशलता से रक्खा है कि "मूल संवाद से काव्यरूप संवाद अत्यन्त मार्मिक हो गया है।" और महाभारत को आदि से पढने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि अर्जुन को विषाद होने का भी यही अवसर था और उस विषाद को मिटाने के लिये उपदेश का यही अवसर था।

उपदेश का यही समय था।
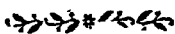
विराट् के यहां जो सभा हुई थी तब सञ्जय व श्रीकृष्ण द्वारा जो जो सन्देश अर्जुन ने कौरवों के पास भेजे थे उनसे स्पष्ट है कि तबतक अर्जुन का यही विचार था कि राज़ी खुशी से कौरव राज्य का भाग न देंगे तो अवश्य युद्ध करना चाहिये। जब श्रीकृष्णजी कौरवों के यहां से लौटकर आये और उन्होंने सब वृत्तान्त कहा तब एक दम तैयारी आरम्भ हुई। तब भी अर्जुन का विचार युद्ध का ही था, जब कुरुक्षेत्र में डेरे खेमे लगने लगे तब भी यही विचार था, जब प्रथम दिनका व्यूह रचा गया तब भी अर्जुन युद्ध ही चाहता रहा। सारांश उस का समस्त कार्यक्रम, बतला रहा है कि यह युद्ध से ही नहीं घबरारहा था। परन्तु जब ठीक रणभूमि पर उतरा, दोनों ओर दृष्टि डालकर देखने लगा तब युद्ध के घोर परिणाम व महानाश का विचार उसके संमुख उपस्थित हुआ और मनमें विषाद छागया। उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट शब्दों में पूछा कि—

"स्वजनं हि कथंहत्वा सुखिनः स्याम माधव" (१-३७)

पृथ्वी पर आकर मनुष्यों में जन्म लिया था, पृथ्वीपर घोर उपद्रव होने लगेथे,तब ब्रह्माने विष्णुसे प्रार्थना की कि संसार में उथल पुथल हो रहा है मनुष्यों में जन्म लीजिये तब विष्णु ने मुसकराकर कहा कि 'ऐसा ही होगा' तब नर- नारायण दोनों "अर्जुन-कृष्ण,, के रूप में असुरों के वधार्थ आये इत्यादि सब बातों का ध्यान रखकर विचार किया जाय तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि महाभारत ग्रन्थ का प्रारम्भ ही गीता से है। अब रहा यह कथन, कि 'तत्वज्ञान' की इतिहास में क्या आवश्यकता? उत्तर यह है कि कुरुक्षेत्र में समस्त पृथ्वी के भूपाल परस्पर संहार की लालसा से एकत्रित हुए थे, पृथ्वी का नाश सामने दीख रहा था ऐसे समय में परिणाम पर दृष्टि डालकर सांसारिक मनुष्य की भांति अर्जुन हड़बड़ा गया तो आश्चर्य क्या? तब वासुदेव ने उस को तत्व ज्ञान व धर्म ज्ञान का तत्व समझाया तब अर्जुन का सन्देह दूर हुआ,तब फिर अर्जुनने गाण्डीव,उठाया तब युद्ध चल पड़ा। यह सीधी साधी बात है पर लोग पूर्वापर सम्बन्ध को न जानकर गीता विषय में मनमाने आक्षेप करते हैं यह आश्चर्य का विषय है।

क्या रणक्षेत्र पर उपदेश देनेके लिये समय मिलसका?

(२)

लोगोंको बहुतही आश्चर्य होता है कि रणभूमि पर ऐसे तत्वज्ञान भरे उपदेश देनेके लिये श्रीकृष्णजी को अवकाश ही कहाँ मिला होगा? शास्त्रों की चर्चा, वेदोंका तत्व, सांख्य-योग-वेदान्त के सूक्ष्म सिद्धान्तों पर विचार करने का, कर्म-

किसी ने क्या बिगाड़ लिया पाँडवों ने धर्मात्मा होकर क्या कर लिया, इत्यादि फिर पाँडवों कीं प्रतिज्ञाओं का भी ध्यान कीजिये। उन के सहायक राजाओं की क्या दशा होती यह भी सोच लीजिये। पहलेसे सब कुछस्वेच्छा पूर्वक छोड़कर पाण्डव जंगल में तप करते रहते तो और बात थी। यहां तो जुए के बहाने से कौरवों ने इनका राज्य छीन लिया था, यही कारण था कि जंगल में भी पांडव सुखपूर्वक नहीं रहे, सदैव बदला लेने की सोचते रहे। श्रीकृष्ण का उपदेश समयानुरूप ही था। पांडव यदि युद्ध छोड़ बैठते तो उन की दुर्गति होती ही पर साथ साथ श्रीकृष्ण जी की भी अकीर्त्ति हो जाती इसलिये भी ऐसे समय पर उभार कर अर्जुन को युद्ध में जोड़ने में "श्री कृष्ण ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता का कार्य किया है।" गीता के पूर्व अध्याय का अन्तिम श्लोक यह है—

उभयोःसेनयो राजन् महान् व्यतिकरो भवेत्।
अन्योन्यं वीक्षमाणनां योधानां भरतर्षभ॥

इस से स्पष्ट है कि सब से पूर्व दोनों पक्ष योधा परस्पर देखने में लग गये जिस से बड़ा हल्ला गुल्ला हुआ।

अब गीता के आगे के अध्याय का प्रथम श्लोक कहता है कि—

ततो धनञ्जयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥

इस का अभिप्राय यह है कि उपदेश श्रवण के पश्चात् जब अर्जुन का मोह दूर हुआ और उसने गाण्डीव धनुष् उठाया तब फिर योधाओं ने खूब गर्जना की। इस से स्पष्ट है कि अवश्य ही उपदेश के लिये अवसर मिला! और महाभारत या "भारतीय युद्ध की! समस्त भव्यशाला इसी उपदेश की नीव पर तैयार हुई है।"

सच देखा जाय तो यह भारतीय युद्ध न्याय—अन्याय, सत्य—असत्य, दैवी आसुरी शक्ति का था। पाँडव न्याय, सत्य व दैवीशक्ति के प्रतिनिधि थे और कौरव अन्याय असत्य व आसुरी शक्ति के प्रतिनिधि. उस में 'धर्म' 'कर्त्तव्य' का प्रश्न था। यह प्रश्न नहीं था कि भाषा मरेंगे कि दादा, गुरु मरेंगे कि आचार्य, चाचा मरेंगे कि भनोजे। यह प्रश्न नहीं था कि समर्थी सम्बधी का गला क्यों काटें, भाई भाई आपस में क्यों कटें! सिद्धान्त यह था कि आततायी पुरुष चाहे गुरु हो आचार्य वृद्ध हो या बालक, मित्र हो या सम्बन्धी उसको मारना क्षत्रियों का धर्म है। फल में आसक्ति छोड़कर, सब कुछ ईश्वरार्पण करके शुद्ध भाव से कर्त्तव्य मार्ग पर खड़े रहना ही कल्याणकारक था। "श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में यही तत्त्व भरा है।" इस अनुपम तत्त्व को और कौन समझा सकता था?

इसलिये भगवद्गीता का उपाख्यान "महाभारत का कंठ भूषण" माना गया है। इस उपाख्यान की युद्धारम्भ में ही आवश्यकता थी। घर में आनन्द से पड़े रहने वालों को 'तत्त्व ज्ञान' सूझ पड़े तो आश्चर्य क्या है। युद्धभूमि पर भी जिसको तत्त्वज्ञान सूझता है और जो शान्तचित्त रहकर तत्त्वज्ञान का पाठ पढ़ा सकता है "वही तो अद्वितीय पुरुष है।" गीता में जो तत्त्वज्ञान भरापड़ा है उसकी तुलना संसार में कोई ग्रन्थ नहीं करसकता। गीता क्या है मानो "गागर में सागर" है। संक्षेप से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं—

१—मूल कृष्णार्जुन संवाद बातचीत के रूप में हुआ।

२—दूतोंद्वारा, दिव्यदृष्टि से, योगबल से, अथवा युद्धसमाप्ति के पश्चात् अथवा युद्ध के दिनों में ही साक्षात् पाण्डवों से मिलकर व्यासजी ने स्वयं सबकुछ जान लिया था। व्यास

जी युद्धदिनों में समय देखकर दोनों पक्षवालों से मिलकर बातचीत किया करते थे, समझाते थे, शोक दूर करदेते थे। उन्होंने धृतराष्ट्र से स्वयं कहा था कि कौरव-पाण्डवों की कीर्त्ति को मैं अटल करदूंगा। सो उन्होंने महाकाव्य बनाकर अपना वचन पूरा किया।

३—उस संवाद को अत्युच्चप्रतिभा द्वारा काव्यमें वर्णन करना, प्रश्नोत्तर रूप में संवाद को रखना, क्रम बाँधना, संवादानुरूप तत्त्वज्ञान भरना, धर्म, कर्म-अकर्म की महत्ता को जतलाना यह व्यासजी का ही काम था।

४-वर्णन इतना स्वाभाविक, प्रश्न इतने सरल, उत्तर इतने अकाट्य, भाषाशैली इतनी अनुपम, भविष्यदृष्टि इतनी उज्ज्वल, कि गीता की कितनी प्रशंसा की जाय, महाभारत काल के पश्चात् गीता के अनुकरण में सैकड़ों गीताएँ व अनुगीताएँ बनगई हैं यही उसकी महत्ता का स्पष्ट प्रमाण है।

५—गीतोपदेश क्या है एक " ज्ञानयज्ञ " है। व्यासजीकी कृपा व प्रतिभा से उस यज्ञ की महिमा संसार में सर्वत्र फैल रही है। श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि जो हमारे इस संवाद को पढ़े पढ़ायेंगे सुने सुनायेंगे, वे ज्ञानयज्ञ के पुण्य के भागी होंगे।

अध्येष्यते च इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ (१८—७०)

६—पूर्वयुग में श्रीकृष्णजी 'नारायण' व अर्जुन 'नर' कहलाते थे। वही नर-नारायण की जुगलजोड़ी इस युग में कृष्णार्जुनरूप में आई और विशेष उद्देश से आई। इसीलिये महाभारत-ग्रन्थ के आदि में नर-नारायण को

नमस्कार करके, 'सरस्वती' व 'व्यास' को हाथ जोड़ कर फिर 'जय' अर्थात् महाभारत पढ़ना चाहिये।

महाभारत का दूसरा नाम 'जय' है। अर्थात् व्यासजी का मूलग्रन्थ 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। पश्चात् 'भारत' व सबसे पीछे 'महाभारत' कहलाया जानेलगा। अर्जुन का नाम भी "जय' और 'विजय' है। और इस 'जय' या 'विजय' के भरोसे पर पाण्डवों ने कौरवों से युद्ध ठाना था और 'जय' प्राप्त कियाथा। इसीलिये शायद व्यासजीने अपने मूलग्रन्थका नाम 'जय' रक्खा हो अथवा लोग ही इस ग्रन्थ को 'जय' कहतेहों।

७–इस गीता के अधिकारी वेही हैं जो तीन प्रकार के (कायिक–मानसिक–वाचिक) तप करने के लिये तैयार हों, भक्त हों, शक्त हों, शुश्रूषु हों।—श्रीकृष्ण कहते हैं :—

> इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
> न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

—*—

श्रीकृष्ण को भगवान् क्यों कहते हैं ?

(४)

अर्जुन ने समय समय पर श्रीकृष्णको 'भगवन्' 'भगवान्' आदि शब्द स स्मरण किया है। स्वयं गीता भी भगवद्गीता' नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्-गीता का अर्थ है "भगवान् की की गाई हुई"=(उपनिषद्)

अर्थात् भगवान् का कहा हुआ रहस्य। भगवान् के छः अर्थ विष्णु पुराण में ६–५–७४ में लिखे हैं :—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां, भग इतीरणा॥

१-समस्त ऐश्वर्य २-धर्म ३-यश ४-श्री ५-ज्ञान ६-वैराग्य इन छै का नाम है भग और जिस पुरुष में ये छः या इनमें से कोई गुणहो वह भगवान् है। श्रीकृष्ण में ये छः गुण विद्यमान थे इसलिये 'भगवान्' कहलाये गये। जिस में इन में से एकभी गुण हो वह भी 'भगवान्' कहलाता है तव श्रीकृष्ण जिनमें सब के सब गुण थे वे भगवान्' क्यों न कहलाते? इस गीता का पूरा नाम था भगवद्—गीता-उपनिषद्=भगवद्गीतोपनिषद्=भगवान् का कहा हुआ रहस्य। उपनिषद् कहते हैं रहस्य को, गूढ़तत्त्व को। पीछे से भगवद्गीतोपनिषद् के स्थान में लोग संक्षेप से भगवद्गीता कहने लगे और आजकल तो और भी संक्षेप होकर केवल 'गीता' ही कहते हैं। जैसे हम रामचन्द्र को 'राम' कृष्णचन्द्र को 'कृष्ण' या मोहनदास को 'मोहन' अपने सुभीते के लिये कहते हैं इसी प्रकार गीतोपनिषद् का 'गीता' रहगया।

दूसरी बात यह है कि 'भगवान्' शब्द प्रायः गुरु और आचार्यों के लिये भी आता है। कृष्ण में अर्जुन की गुरुबुद्धि प्रथम से ही थी। कईवार उसने कृष्ण को 'गुरुर्मे' (तुम मेरे गुरु हो) कहा है। इसलिये भी 'भगवान्' शब्द उपयुक्त है। भगवान् ने जिस धर्म का उपदेश किया वह 'भागवतधर्म' कहलायागया। यही भागवतधर्म पूर्वयुगों में 'नारायणधर्म' कहलायागया। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय में 'नारायण' नाम से प्रसिद्ध थे। प्रसिद्ध ऋषि थे, अर्जुन भी ऋषि था उसका नाम था 'नर'। इन दोनों ने पूर्वजन्म में बड़ा तप किया था। साथ ही रहते थे, साथ ही तप तपा। और

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते (६—४१)

इस नियम के अनुसार इस जन्म में 'क्षत्रियों' में उत्पन्न हुए।

कौन से कृष्ण ने गीतोपदेश दिया।

(५)

किस कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया ? सीधा उत्तर यही है कि उसी कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया जो कि अर्जुन का 'सखा' था, जो यादवकुल में उत्पन्न हुआ था, जो सान्दीपन ऋषि का शिष्य था। हरिवंश पुराण में श्रीकृष्णचरित्र विस्तार पूर्वक आया है। अब अवतार की बातों को छोड़ दिया जावे तो भी विद्या, बुद्धि, नीति प्रभाव, ऐश्वर्य, योग आदि के कारण वह 'योगेश्वर' कहलाने योग्य थे। सञ्जय ने भी श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा है। श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष संसार में विरले ही होते हैं। अवतार के विषय में इतना लिखना पर्याप्त है कि :-

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥　　　(४—७८)

श्रीकृष्णजी की इस उक्ति के अनुसार उनका अपने योग बलसे पूर्व जन्मजन्मान्तर की बातें कहकर अर्जुन को आश्वासन देना आश्चर्य्य कारक नहीं है। महापुरुष संसार में विशेष उद्देश से आते हैं और अलौकिक कार्य्य करके चले जाते हैं। येही अवतार हैं—गदायुद्ध पर्वमें दुर्योधनवधके पश्चात् युधिष्ठिर कृष्ण का संवाद आया है उसमें कृष्ण ने कहा है कि :—

> अत्र 'गीता' मया सुष्ठु, गिरः सत्या महीपते।
> दर्शितं मयि सर्वंच, तेनासौ जितवान् रिपुम्॥

(६२—२८)

युधिष्ठिर ! मैंने अर्जुन को सत्य बातें बतलाईं (गीता को कहा) और विश्वरूपदर्शन द्वारा सब कुछ अपने में दिखलाया

तव इसको पूर्वजन्म का सारा वृत्तान्त याद आया, और फिर वह युद्धकरने के लिये खड़ा हुआ, तभी तो शत्रुओं को जीतसका।

—o—

गोपीश्वर कृष्ण योगीश्वर कैसा ?

(६)

पुराणों की वातों को स्वयं पढ़कर या सुनकर सामान्य पाठक यह कह सकताहै कि गोपीश्वर कृष्ण योगीश्वर क्योंकर हुआ होगा ? उत्तर यह है कि पुराणोंकी वहुतसी वातें 'अर्थवाद' से भरी हैं। अर्थवाद अर्थात् प्रशंसाके बढ़ानेके लिये लिखी गई हैं। वहुतस्थलोंपर कविजन-सुलभ अत्युक्ति से काम लिया गया है। उन्ही पुराणों के आधारपर यह सिद्ध किया जासकता है कि नीतिमत्ता, वीरता, योग, धर्म आदिमें श्रीकृष्ण सबसे बढ़करथे। उस ज़मानेमें आजकल सा छल कपट नहीं था। कृष्णकी महिमा जैसे जैसे वढ़ती गई और वह अवतारी पुरुष समझाजाने लगा तव उनकी सभी वातों को अलौकिक समझकर सभी वातों में पुराण कवियों ने उनको चढ़ा दिया। श्रीकृष्ण स्वयं गोपवंश के अंकुरथे और सबको इतने अधिक प्रिय थे कि गोपमण्डल, वृष्णिमण्डल, इनको अपने प्राण समझते थे। कृष्णके विना द्वारकामें उदासी या सन्नाटा छाजाने के कतिपय वर्णन महाभारत या हरिवंशमें मिलते हैं। कृष्णके आनेपर आनन्दमहोत्सवों के भी वर्णन आते हैं। "इसी अर्थमें" गोपेश्वर गोपीश्वर या जो कुछ कहिये थे। उनकी राज्यव्यवस्था, रीति-नीति से स्पष्ट सिद्ध है कि वे सबको समानरूपसे प्रिय थे। "हमारी समझमें १६१०८ स्त्रियों की वात जैनियों की कृपा का फल है।" जैनधर्मके ग्रन्थों में कहीं कहीं

श्रीकृष्णकी बहुत निन्दा की है, उसका नरक में जाना बतलाया है। जैनग्रन्थकारों ने श्रीकृष्णको बहुत बदनाम करने का यत्न किया है। हरिवंश पुराण जैनियोंके पश्चात् बना और पुराण कवियोंने कृष्णको अवतारी पुरुष बताकर कृष्णकी की हुई निन्दाको अलौकिकरूपमें परिवर्त्तित किया। जैनियों का अभिप्राय सिद्ध न हुआ। अब रहा कृष्ण की 'रासक्रीड़ा' का वर्णन यह वर्णन सत्य है। प्राचीन समय में नृत्य गीत की बड़ी महिमाथी, प्रत्येक गृहस्थको स्त्री हो या पुरुष, नाचना गाना आता था और उत्सव समारम्भ व मेलों में प्रायः मिलकर नाचते गातेथे। इसमें क्या बुरी बातहै? आजकल अंगरेज़ों के यहाँ भी 'बॉल' नामक नाच होता है पर हमारे यहाँ प्राचीन समय के नृत्य अलौकिक होते थे। वह एक प्रकारकी विद्या समझी जाती थी। वह नृत्य विद्या प्रायः नष्ट होगई और अब नाचना नटनियों का और गाना मिरासियों का काम समझा जाता है। गानविद्या तो प्रायः दक्षिण देशमें अब भी विद्यमान है "पर नृत्यविद्या का लोप होगया।" वह विद्या विद्यमान होती तो लोग जानसकते कि कैसी अद्भुत विद्या है। कालकी गालमें सब ग्रन्थ लुप्त होगये, हमने दो एकबार ताण्डव नृत्य देखे हैं उनको देखकर हम तो दंग रहगये। और तभीसे हम इस निश्चयपर पहुंचगये कि नृत्यविद्या के लोपहोजानेसे भारतवासी गृहस्थों का एक बड़ा मनोरञ्जन का साधन लुप्त होगया। गढ़वालियों का 'पाण्डवनृत्य' प्रसिद्ध है-जिसने न देखा हो जाकर देखे। प्रायः अंगरेज लोग भी इन नृत्यों को चाव से देखते हैं। कतिपय अनुभवी अंगरेज़ों का मत है कि गढ़वालियों में जो वीरता बची है। इस 'पाण्डवनृत्य' की बदौलत बची है-" अर्जुन 'नृत्य-गीत-वादित्र' में अत्यन्त निपुण था। उसने इन्द्रके यहाँ रहते हुए चित्रसेनसे यह विद्या सीखली थी। अज्ञातवासमें

विराट्-कन्या उत्तरा को अर्जुन ने यह विद्या सिखाई थी। विराट् के राजभवन में नृत्यशाला का वर्णन आया है। वहाँ राजकुमारियों के साथ शहर की कन्याएँ भी नृत्य, गीत वादित्र सीखती थीं। नृत्य विद्या शारीरिक शक्तिको वढ़ाती है। शरीर को चुस्त वनाती है। इससे शरीर के प्रत्येक नस का व्यायाम हो जाता है। इस विद्याका व गानविद्या का घनिष्ठ सम्बन्धहै। नारद, तुम्बुरु, विश्वावसु, आदि इस विद्याके आदि आचार्य हुए हैं। जैसे समय समय के राग हैं वैसे ही समय समयके पृथक् पृथक् नृत्य हैं। इसलिये हमारा कथन यह है कि रासक्रीड़ा आदिमें स्त्रीपुरुषों का एकत्रित होकर गाना बजाना नाचना आक्षेपजनक नहीं है। "यदि भारतवासियों के पुण्यशेष होंगे तो नृत्यविद्याका पुनरपि उद्धार होगा।"

गीता पुस्तक रूप में कब आई ?

(७)

इस प्रश्न का सरल उत्तर यही है कि जब कभी महाभारत-वर्त्तमान महाभारत नहीं, व्यास जी का महाभारत (जय) लिखा गया होगा तभी गीता भी लिखी गई होगी। क्यों कि 'गीता' महाभारत का अङ्ग है। महाभारत के युद्ध में जो कि लग भग ५०२८ वर्ष हुए हुआ था इस गीता का उपदेश हुआ। युद्ध के पश्चात् जब सर्वत्र शान्ति हुई पाँडवों को राज्य मिल गया, तब यह कल्पना हुई होगी कि यह वृत्तान्त लिखा जाय व्यास जी ने धृतराष्ट्र से पहिले ही कह दिया था कि मैं कौरव पाँडवों की कीर्ति को अटल कर दूंगा। कीर्त्ति को अटल करने का उपाय महाकाव्य बनाकर प्रचलित करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता था। व्यास जी ने लिखाना व उन के शिष्यों ने

लिखना प्रारम्भ किया होगा, लिखते लिखते जब महाभारत लिखा गया, वही 'गीता' के 'कागज़' पर उतरने का समय है समय के प्रभाव ने सब जगह लिखित महाभारत का संग्रह हो गया होगा और 'गीता' को भी "उत्तम संग्राह्य भाग होने से उपयुक्तता के विचार से" अलग लिखकर रखने का सम्प्रदाय पड़ गया होगा। समय के साथ विद्वान् लोग प्रतिदिन के पूजा पाठ में गीता के पाठ को भी प्रमुख स्थान देने लगे फिर गुरु शिष्य परम्परा व लोकपरम्परा से लिखित रूप में गीता का प्रवाह चलता रहा और जब मुद्रणकला आई तब से क्या कहना है, गीता घर घर में विद्यमान है। जब तक मुद्रणकला भारत में नहीं आई थी तब तक लिखित पोथी पत्रों का ज़माना था, अब भी प्राचीन पंडितों के यहाँ भट्ट उपाध्यायों के यहाँ संस्कृत के केन्द्रों में लिखित पोथी पत्रों का प्रचार पाया जाता है। इस दशा में भी सैकड़ों सहस्रों हस्तलिखित पोथी पत्रे हैं जिन को मुद्रित रूप में देखने का सौभाग्य भारतवासियों को मिलेगा या नहीं ईश्वर ही जाने। बहुत से पत्रात्मक ग्रन्थ कालार्क ने ग्रस लिये। "रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य" लिखते हैं कि भगवद्गीता का काल ईस्वी सन से पूर्व २००० से १५०० वर्ष तक है। परलोकवासी "जस्टिस तैलंग" ई०पू० ३०० तक मानते हैं, पाश्चात्य पंडितों ने 'वर्त्तमानगीता' व 'प्राचीनगीता' ऐसे दो विभाग किये हैं और अनेक बेजोड़ अनुमान लगाये हैं गीता सब से पूर्व कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में गद्यरूप में कही गई फिर वह व्यास जी के महाकाव्य में काव्य रूप में आई फिर व्यास जी के शिष्य वैशम्पायनादि ने उसका प्रचार किया उन्हीं से सौति ने लेकर इस वर्त्तमान महाभारत में रक्खा। उस गीता में जरा भी भेद नहीं पड़ा है। वैद्य

महोदय महाभारत युद्ध का काल ३१०१ ई० पूर्व रखते हैं, उन की राय में यही श्रीकृष्ण का काल है।

स्व० लोकमान्यतिलक गीतारहस्य (प्रथमावृत्ति पृ० ५२३ प्रकरण ' गीता व महाभारत ') में लिखते हैं कि—

"इसप्रकार सिद्ध होचुका कि वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारतकाही एकभागहै। अब उसके अर्थका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना चाहिये। 'भारत' और 'महाभारत' शब्दों को हम लोग समानार्थक समझते हैं, परन्तु वस्तुतः वे दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाय ' भारत ' नाम उस ग्रन्थ का होसकता है जिसमें भरतवंशी राजाओं के पराक्रम का वर्णन हो। ' रामायण ' ' भागवत ' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति ऐसी ही है, और इसी रीति से भारतीय युद्ध का जिस ग्रन्थ में वर्णन है उसे केवल ' भारत ' कहना यथेष्ट हो सकता है फिर वह ग्रन्थ चाहे जितना विस्तृत हो। रामायण ग्रन्थ कुछ छोटा नहीं है, परन्तु उसे कोई 'महारामायण' नहीं कहता, फिर भारत ही को महाभारत क्यों कहतेहैं? महाभारत के अन्त में यह बतलाया है कि महत्व व भारत्व " इन दो गुणों के कारण इस ग्रन्थ को महाभारत नाम दिया गया है " (स्व० प० ५—४४) परन्तु ' महाभारत ' का सरल शब्दार्थ ' बड़ाभारत ' होता है। और ऐसा अर्थ करने से यह प्रश्न उठता है कि ' बड़े ' भारत से पहले क्या कोई छोटा भारत भी था? और उसमें ' गीता ' थी या नहीं? वर्तमान महाभारत के आदिपर्व में लिखा है कि उपाख्यानों के अतिरिक्त महाभारत के श्लोकों की संख्या २४००० (आदि १-१०१) और आगे चलकर यह भी लिखा है कि पहले इसका 'जय' नाम था (६२-२०) 'जय' शब्द से भारतीय युद्ध में पाण्डवों

के जय का बोध होता है, और ऐसा अर्थ करने से यह प्रतीत होता है कि पहले भारतीय युद्ध का वर्णन 'जय' नामक ग्रन्थ में किया गया था। आगे चलकर उसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में अनेक उपाख्यान जोड़ दियेगये और इस प्रकार 'महाभारत' एक बड़ा ग्रन्थ होगया जिस में इतिहास धर्म अधर्म विवेचन का भी निरूपण कियागया है........................ ...
अतएव यहां पर इतना कहदेना ही यथेष्ट होगा कि "वर्त्तमान समय में जो 'महाभारत' उपलब्ध है वह मूल में ऐसा नहीं था" भारत या महाभारत के अनेक रूपान्तर होगये हैं और इस ग्रन्थ को जो अंतिम स्वरूप प्राप्त हुवा वही हमारा वर्त्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता कि मूलभारत में भी गीता न रही होगी हाँ यह प्रकट है कि सनत्सुजातीय, विदुर नीति..............आदि प्रकरणों के समान ही वर्त्तमान गीता को महाभारतकारने पहले ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। नई रचना नहीं की है। तथापि यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जासकता कि मूलगीता में महाभारतकारने कुछ भी हेर फेर न किया होगा। उपर्युक्त विवेचन से यह बात सहजही में समझ में आसकती है कि वर्त्तमान सातसौ श्लोकों की गीता वर्त्तमान महाभारत ही का एक भाग है। दोनों की रचना भी एकही ने की है और वर्त्तमान महाभारत में वर्त्तमान गीताको किसी ने बाद में मिला नहीं दिया है"।

श्रीकृष्ण के जन्म के समय में भारतकी कैसी दशा थी ?

(८)

भारतवर्ष में विशेषतः आर्य्यावर्त्त में आर्यों की खूब उन्नति थी। देश में क्षत्रियों की संख्या बहुत बढ़गई थी। जिधर

देखो उधर ही स्वराज्य व सुराज्य था। लोगों का रहन सहन अनुकरणीय व आचार विचार श्रेष्ठ थे लोगों में परस्पर वैमनस्य की मात्रा कम थी। देश रोगशून्य था। जर्मनयुद्ध के पूर्व यूरोप की जो दशा थी प्रायः वैसीही दशा इस देश की थी। पुराण में लिखा है कि ब्रह्मदेव चिन्तित थे कि पृथिवी का भार हलका कैसे हो। पृथिवी ने स्वयं जाकर देवसभामें ब्रह्मासे यह भारकी शिकायत कीथी विष्णुने हँसकर कहाथाकि कौरवकुलकलंक दुर्योधन तेरे बोझ को शीघ्र ही हलका करदेगा" घबराओ मत। ऐसे ही समय में श्रीकृष्ण का जन्म या अवतार हुआ। ब्रह्माने विष्णुसे कहा था कि पृथिवी पर राक्षस लोग मनुष्यों में जन्म ले रहे हैं। यदि आपभी मनुष्यों में जन्म लेकर उनका संहार न करेंगे तो बड़ा अनर्थ होजायगा। विष्णु ने कहा शीघ्र ही ऐसा होगा। स्मरण रहे कोई जाति एक सी दशामें सदा के लिये नहीं रहसकती। जब अधः पतनके दिन आते हैं तब उस जाति, उसदेश वउसराष्ट्रमें आसुरी सम्पद् आजातीहै। जब उन्नति होती है, तब दैवीसम्पद् की अधिकता होजाती है। यह गति सब देशों के लिये है, इतिहासके पृष्ठ खोलकर देखनेसे स्पष्ट हो सकता है कि समयानुसार उच्चनीच गति टाले नहीं टलसकती। कालिदासकी –'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' इस उक्ति में यही तत्त्व प्रकट कियागया है।

–'रिक्ता भवन्ति भरिता, भरिताश्च रिक्ताः" यह अरहट की उपमा यहीं ठीक लगती है। अरहट की ओर देखिये, भरेहुए डोल खाली होजाते हैं और खालीहुए डोल नीचे जाकर भरकर फिर ऊपर आतेहैं। यह भरने व खाली होनेका चक्र संसार में सदैव देखा जाता है। उन्नतिके उच्च शिखरपर पहुंचे हुए यूरोप खण्डमें "एक कैसर की महत्वाकांक्षा के कारण" महा-

भारत हजार ता इसीप्रकार "दुर्योधन के लोभ और धृतराष्ट्र के पुत्रमोहके कारण" महाभारत उपस्थित हुआ। वस यहीं से भारत का अवनति चक्र आरम्भ हुआ। इस अवनति चक्र को घुमाने का "दोष क्षत्रियों के लिए ही कहा जा सकता है।" इस युद्धमें लाखों वीर मरे, सैकड़ों विद्वान् नष्ट हुए, भारतकी जनसंख्या के साथ साथ अन्य सब विद्या कला कौशल का ह्रास हुआ। पृथिवी का थोड़ा बहुत भार भी घटा-पर यह लाभ हुआ कि एक बड़े अन्यायका परिमार्जन हुआ। दैवी-सम्पद् के प्रतिनिधि पाण्डवोंने आसुरीसम्पद् के प्रतिनिधि दुर्योधनादि का नाश किया, सत्यकी विजयहुई, धर्म का बोल बाला हुआ। पर यह जीत बहुत महंगी पड़ी भारतीय आर्यों की उन्नतिका चूरा चूराहुआ। उच्च संस्कृति नष्ट होनेलगी, ऐसे समयपर, युद्धभूमि परही सही ऐसे दिव्यपुरुषके दिव्यउपदेश ने वड़ाकाम किया और भावी सन्तान के लियेभी मार्ग खुला होगया। जिससे कि नीतितत्त्व को समझकर वे सदैव धर्मपर आरूढ़ रहें। श्रीकृष्ण के उपदेशमें प्रवृत्ति निवृत्तिका मर्म भली भांति आगया है। प्रवृत्तिसे मिलता जुलता व निवृत्तिका फल देने वाला "ऐसे एक तीसरे ही मार्गका"=कर्म योग का— उपदेश श्रीकृष्णने किया है। पर वह मार्गभी निवृत्ति से कम कठिन नहीं है।

प्रवृत्ति—निवृत्ति का मर्म।

[१]
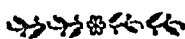
कोई व्यक्ति, समाज, गण, जाति या राष्ट्र जबतक प्रवृत्ति और निवृत्तिके तत्त्व को समझकर काम करते रहते हैं तब तक सब काम ठीक होते रहते हैं। पर जहाँ प्रवृत्ति का

दुरुपयोग हुआ कि वहीं अनर्थ होता है। प्रवृत्ति के स्थान में कुप्रवृत्ति हुई कि आपत्ति आई ही समझिये। इसीप्रकार निवृत्ति का खेल है। निवृत्ति के नाम पर उलटा पैर रक्खाकि गये गढ़े में। प्रवृत्ति–निवृत्ति का समान ही उपयोग होना चाहिये। उत्साह, तेज, उद्योग, साहस "ये प्रवृत्ति के गुण हैं" और धर्म, तप, अनासक्ति "ये निवृत्ति के गुण हैं" दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति के गुणोंको 'आधिभौतिक' व निवृत्ति के गुणों को 'आध्यात्मिक' कह सकते हैं। ये दोनों प्रकार के गुण सम-समान रहे तब भारतवर्ष की गाड़ी बेखटके चलती रही, पर जब प्रवृत्ति कुप्रवृत्ति होकर लोभरूप में परिणत होगई और उसने घोर आसुरीरूप पकड़लिया तब नाश हुआ। संसारमें जो कुछ है वह मेराही है, मैं किसी को न रहनेदूंगा.किसीको ऊपर जाने नहीं दूंगा—ऐसी प्रवृत्ति हुई तभी नाश के दिन आगये। बाबा! तू दुनियां में आया है तेरा भी भाग अवश्य है, उसे तू अवश्य संभाल पर सब कुछ तेरा नहीं है, दूसरों का भी तो भाग है। दूसरों का भी तो यहां रहना है, दूसरे भी तो अधिकारी हैं। पर एकबार लोभका भूत सिरपर चढ़गया तब वह कैसे समझ सकताहै,वह तो'नापतित्वा विबुद्ध्यते'इस वचनानुसार बिला पटक खाये समझ नहीं सकता। भला प्रवृत्ति की भी तो कोई हद होनी चाहिये, लोभ की कुछ तो सीमाहो। यही लोभ जब मान की ओर जाता है तब तीव्र महत्वाकांक्षा का लानेवाला होता है। इस अनुचित महात्वाकांक्षा ने पहले भी संसार को नष्ट किया और अब भी यूरोप को बरबाद करना चाहती है. समस्त पापों का कारण लोभ है। 'जबतक लोभ की तेज ट्रेन के साथ धर्म का ब्रेक लगा है तबतक कोई खतरा नहीं. जहां ब्रेक अलग हुआ कि ट्रेन गई शैतान के हाथ

में फिर ईश्वर ही उसका रक्षक है। श्री व्यासजी ने क्या ही अच्छा कहा है—

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

पृथिवी भर में जितने प्रकार के धन-धान्य हैं। हिरण्य हैं स्त्रियें हैं—इनसे तो एक की भी वासना तृप्त नहीं हो सकती ऐसा समझ कर शम को प्राप्त होना चाहिये। क्या कभी किसी की हविस पूरी हुई? पेटू लोभ का पेट किसी ने आज तक भर पाया है? ईशोपनिषद् में कहा है कि सत्य का मुख चमकीली चीज़ों से ढका है उसको हटाकर सत्य के स्वरूप को समझना चाहिये। पर संसारी पुरुष ऊपर की ही चमक दमक में फँस कर सर्वनाश कर लेते हैं सत्य तक पहुंचने भी नहीं पाते। लक्ष्मीमद, विद्यामद और नाना प्रकार के मदों में लिप्त होकर आसुरीभाव को प्राप्त हुआ पुरुष तत्वको कैसे समझ सकता है इसी तरह समाजों में दुर्गुणों की भरमार होकर सर्वनाश हो जाता है। संसार के सब देशों में यही चित्र दीखेगा। अपने देशके "कंस" को लीजिये "जरासंधको लीजिये "शिशुपाल को लीजिये "दुर्योधन" को लीजिये, इनकी प्रवृत्तिमात्रा इतनी अधिक हो गई थी कि उनके कारण दूसरों को कष्ट पहुंचने लगा था। असुरों के कारण सर्वत्र आसुरीवृत्ति बढ़ रही थी। दैवी सम्पत् कष्ट में थी। देव दुःखी थे। ऐसे ही समयों पर कमजोरों की रक्षा के लिये, धर्म की रक्षा करने के लिये, अधर्म को हटाने के लिये, देवों की रक्षा करनेके लिये, महापुरुष का अवतार होता है। कृष्ण इसी निमित्त आये व उन्होंने निःस्वार्थ भाव से निर्बल पाण्डवों का पक्ष लेकर उनकी स्थापना कर दी। कृष्ण को उनके राज्य की आवश्यकता नहीं थी, उनको

अपना घर नहीं भरना था, उनको किसी एषणाका बन्धन नहीं था,। केवल सत्यधर्म की स्थापनार्थ वे आये थे वह अपना काम खूब कर गये। इस प्रकार का कृष्ण जैसा निःस्वार्थ पुरुष था दूसरा दृष्टान्त संसारके इतिहास में नहीं मिल सकेगा इस लिये प्रवृत्ति निवृत्ति के मर्म को खूब समझ लेना चाहिये। प्राचीन वर्णाश्रममर्यादा इस प्रवृत्ति निवृत्ति के मर्मको समझ कर ही बनाई गई थी। ब्रह्मचर्य व गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति के लिये व वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम निवृत्ति के लिये बनाये गए थे। शनैः शनैः प्रवृत्ति व शनैः शनैः निवृत्ति का तत्व भर दिया गया था। पूर्व पूर्व आश्रमों को पूरा कर अगले अगले आश्रमों में जाने का विधान था। इससे प्राचीन धर्मसंस्थापकों के अपूर्व अनुभवों का प्रमाण मिलता है।

प्रवृत्ति-निवृति के झोंके

हमारे धर्मशास्त्र व ऋषियों के सदाचारानुसार यह बात स्पष्ट है कि प्रथम दो आश्रम— ब्रह्मचर्य्य व गृहस्थ—प्रवृत्तिके लिये और द्वितीय दो आश्रम—वानप्रस्थ व संन्यास—निवृत्ति मार्ग के लिये हैं। उनका मतलब यह था कि संसार में कर्मफल को भोगने व धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष साधने के लिए शनैः शनैः एक आश्रम से दूसरे आश्रम की ओर जाकर फिर संसार से हटना श्रेयस्कर है। जिस महानुभाव के पूर्वजन्म के उत्कट संस्कार हैं वह जब चाहे संसार से हट जाय, उसके एक दम निवृत्त होने से संसारकी हानि नहीं-कुछ लाभ ही होगा। साधारण संस्कारहीन पुरुष का एकदम प्रवृत्ति मार्ग छोड़कर निवृत्त होना भयङ्कर है। उपनिषदोंमें भी कहा है कि-वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा—इन तीनों एषणाओं से हटकर फिर

संसार से विमुख होना चाहिये। यही प्राचीन ऋषि मुनियों का सिद्धान्त रहा है, परन्तु कालचक्र के साथ जब अधोगति के दिन आये तो काल के कारण क्षत्रियलोग प्रवृत्तिनिवृत्ति के तत्व को भूलने लगे, प्रवृत्ति के झोंकों के साथ बह जाने लगे, तब सामान्य जनता की तो बात ही क्या है। धर्ममर्यादा के रक्षक जब स्वयं भ्रष्ट होने लगे तब धर्मरक्षा कौन करता? तब 'अंधेरीचक्र" जोर से फिरने लगा और लोग प्रवृत्ति के नाम पर मनमाना करने लगे। निवृत्तिके नामपर अनर्थ बढ़ने लगा। यह भी स्मरण रहे इन "पूर्वोक्त दो मार्गों के बीच में एक और भी मार्ग था" वह मार्ग कर्मयोग का मार्ग था-यदि पुरुष प्रवृत्ति से न हटना चाहे तो विशेष प्रकार का आचरण रखते हुये-कर्मफल में आसक्ति छोड़कर वर्तने से--प्रवृत्ति में रहते हुए भी निवृत्ति का फल पा सकता था। पर लोग इस मार्ग को भी भूल बैठे थे। स्मरण रहे फलासक्ति छोड़कर कर्म करने का मार्ग निवृत्तिमार्ग से कम कठिन नहीं है। "जनकादि राजर्षि इसी कर्मयोग पर आरूढ़ रहे थे। स्वयं कृष्ण भी कर्मयोगी थे जब प्रवृत्ति मार्ग पर चलने वाले लोगों की प्रबलता हुई तब कर्मयोग, ज्ञानयोग, या ध्यानयोग को कौन पूंछता? ऐसे प्रवृत्ति मार्ग में फँसे हुए लोगों की आसुरी प्रवृत्ति को देखकर सात्विक लोग संसार से भारी आगये और उन्होंने प्रवृत्ति की दुर्दशा मिटाने के लिये एक दम निवृत्तिमार्ग पकड़ा, सब भले भले लोग इधर झुकने लगे, इस विषय के उपदेश चहुं ओर से होने लगे-इसी प्रकार के ग्रन्थ बनने लगे--अब निवृत्तिभी प्रवृत्ति की तरह दूसरे सिरे पर जा पहुंची। वर्णाश्रमधर्ममर्यादा शिथिल होकर जब संसार की उचित प्रवृत्ति का भी महत्व घटने लगा तब 'श्रीकृष्णने कर्मयोगके मध्यवर्त्ती मार्गकादिउपदेश

देश दिया"। इस विषय में श्रीकृष्णका अनन्त उपकार मानना चाहिये। प्रवृत्तिमें वे तरह फँसेहुए लोग आसुरी सम्पद् के बनजाते हैं और निवृत्ति में फँसेहुए लोग दैवीसम्पद् के होते हैं इसका मर्म गीताके सोलहवें अध्यायमें भली भांति खोला गया है। इसलिये आसुरीसम्पद् के साथी कौरवों के दमनार्थ दैवी सम्पद् के अनुयायी पाण्डवों का साथ देना श्रीकृष्ण का परम कर्त्तव्य था। वर्त्तमान समय में प्रवृत्तिका दुरुपयोग देखना हो तो यूरोप अमरीका आदि पाश्चात्य देशों को देखिये। निवृत्ति को दुर्गति देखनी हो तो भारतवर्ष को ही देखिये निवृत्ति का दुरुपयोग करनेवाले साधु सम्प्रदाय या अन्य उदासीन मण्डलको देखिये। इनमें क्रमसे आश्रमोंको पूर्ण करके कितने निवृत्त हुए हैं और प्राचीन उत्कट संस्कार वश कितने निवृत्त हैं। क्या इतने सच्चे सैंकड़ों निवृत्त लोग भारत में होते तो भारत दुर्गतिके गढ़े में पड़ारह सकता था? यूरोप सब कुछ पास होते हुएभी क्यों दुःखी है? इसलिए कि प्रवृत्ति का दुरुपयोग होगया है? उनकी प्रवृत्ति लोभ में बदलकर आसुरीरूप धारण कर रही है। भारत क्यों दुःखी है? इसलिये कि इसकी निवृत्ति निस्तेज है। एक ओर प्रवृत्तिहीनताने दूसरी ओर निवृत्ति के डम्बराडम्बरने इसको खोखला कर रक्खा है। फल यह हुआ कि साधारण संसारीजीव व इन निवृत्ति मार्ग के दूत साधु सम्प्रदायमें केवल वस्त्रोंका अन्तर रह गया। वाकी दोनों के काम एक सेही हैं इनमें भी भारतके सौभाग्यसे कहीं कहीं छिपे रत्न मिलजाते हैं पर उनकी संख्या "दर्या में खसखस" के तुल्य है। संसार को छोड़ सकते होतो अवश्य छोड़ो पर अपक्वदशा में छोड़नेसे स्वयंभी नष्ट होगे और अपनी सोसाइटी को भी नष्ट कर डालोगे। संसार के

दुःखों के डर से भाग जाओगे तो जंगल में भी सुख नहीं मिल-सकता, अपूर्णवासनाएँ जंगल में आराम से न बैठने देंगी। इसलिए प्राचीनलोग क्रमसे एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें आते थे। "जो काम महाभारतके समयमें श्रीकृष्णने किया करीब करीब वही काम श्रीस्व० लो० तिलकने वर्त्तमान आंग्लयुगमें किया।" भारतवर्ष लोकमान्य तिलकका चिरकाल तक ऋणी रहेगा। हमारा विचार है कि अब जितने आगे महापुरुष होंगे वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही कर्मयोगका अनुष्ठान करेंगे "जिससे निवृत्ति का कांटा ठोक जगह आ सकेगा शौनकने युधिष्ठिर का एकबार उपदेशदिया कि—

"यदिदं वेदानुवचनं कुरु कर्म त्यजेति च"

कामसे मत भागो, कर्म करते रहो व फलासक्तिको छोड़ दो। युधिष्ठिर का अपना मत यह था कि—

"उभयं वेदवचनं कुरुकर्म त्यजेति च".

वेद दोनों बातों को बतलाता है अर्थात् समय पर कर्म करते रहना चाहिये और जब जी उकताजाय छोड़ छाड़कर निवृत्त होना चाहिये। युद्धसमाप्ति के पश्चात् राज्याभिषेक के प्रश्न उठनेपर, युद्धका परिणाम व प्राप्तइष्टों का नाश आदि सोच-कर जब युधिष्ठिरने वन जानेकी बात कही तब अर्जुनने शास्त्र धर्मानुसार उपदेश देकर समझाया इसपर युधिष्ठिरने उस को डाँटा और कहा कि मैं वेदशास्त्रों के मर्मको स्वयं खूब जा-नता हूं तू इतना नहीं जानता है, तू उपदेश देनेका अधिकारी नहीं है। वेद दोनों बातों को कहते हैं इत्यादि।

इस प्रवृत्ति व निवृत्ति के विषय में हमारे पूर्वजोंमें बहुत मतभेद चला आया है। "याज्ञिक लोग" यज्ञादिकर्म करते

रहनेसेही मुक्ति तक पहुंचनेका दावा रखते थे। "उपनिषद् के मर्म जानने वाले" इन यज्ञादिकोंको "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः-" अर्थात् इन यज्ञादिकों को कच्चामार्ग बतलाकर निवृत्तहोकर ध्यानयोग करनेमें कल्याण समझते थे। संसारी मार्ग को 'प्रेयमार्ग' और ईश्वर की ओर लेजाने वाले मार्ग को 'श्रेयोमार्ग' कहते थे। प्रेयमार्ग बन्धन में डालता है और 'श्रेयोमार्ग कल्याण कर्त्ता है ऐसा उनका मत था बीच का मार्ग कोई था ही नहीं-शायद भूल गये थे-या यह मार्ग ढक गया था। श्रीकृष्णने इसीमार्गको फिर चलाया। "ग्रीकलोग" होमर के समयमें प्रवृत्तिकोही सब कुछ समझ बैठे। "पाइथागारस" के समयमें इनकी निवृत्तिमें रुचिहुई, इसके अनुयायी, मांसादि छोड़ना, अविवाहित रहना अच्छा समझते थे। "डायोजेनिस" के समय में ग्रीक लोग निवृत्तिकी चरमसीमा को पहुंच चुके थे। डायोजेनिस सब संगोंको छोड़कर जन्मभर एक बड़े पीपे में रहा। 'एपीक्यूरस"का मत था कि निसर्गसे प्राप्त होने वाले सुखों को भोगकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए-यह मत बढ़ते बढ़ते इतना बढ़ाकि ऐहिक सुखोपभोग लोगोंका जीवनोद्देश्य बना-बस बढ़ने लगा ऐश-आराम, होने लगे आमोद-प्रमोद-होने लगे अनाचार, बढने लगे अत्याचार, -"इस अधःपात के कारण ही" क्रिस्तीयधर्मको उसदेशमें प्रवेश मिला क्योंकि इन ईसाइयों के धर्मोपदेशकोंमें निवृत्तिका अन्त था। ये लोग अधिक शमदमसे रहते थे। अधिकतर अविवाहित रहतेथे प्रायः एक स्त्रीसे सन्तुष्ट रहते थे। इनमें संन्यासी (माँक) संन्यासिनियों (नन्स) की संख्या अधिक बढ़ी। इसका प्रभाव आचारविहीन ग्रीकलोगों पर खूब पड़ा। तपस्वी व तेजस्वी लोगोंके प्रभावसे विषयी लोग सदैव दबाही

करते हैं। ज्यूलोगभी मद्यमांस छोड़ना, अविवाहित रहना, ईश्वरभक्ति करना अच्छा समझते थे। खिस्तमतावलम्बी जबतक मर्यादा पूर्वक निवृत्तिमार्ग में रहे तबतक ठीक था पश्चात् मर्यादा टूटगई और इनके यहांभी साधु (पोप) साधनियों (पोपनों) की संख्या बढ़ी। पीछेसे नियम बनायागया कि पादरी लोग विवाह न करने पावें। यह निवृत्ति तो थी पर असली निवृत्ति नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि फिर विषय लोलुपता व अनाचार बढ़ने लगे। दम्भने सिर उठाना शुरू किया, तब इस पोप लीला के दमनार्थ लूथर का अवतार हुआ और प्रोटेस्टेण्ट नामक प्रवृत्तिपरक मत चल पड़ा।

इस समय पाश्चात्य लोगों की प्रवृत्ति चोटी तक पहुंचगई है, यही कारण है कि जब जब भारतवर्ष की ओरसे कोई विद्वान् साधु संन्यासी निवृत्तिका उपदेश लेकर वहाँ पहुंचते हैं तब ये लोग-प्रवृत्तिसे तंग आये हुए ये लोग-एकदम उनके पीछे हो लेते हैं और भक्तिपूर्वक शिष्य बनजाते हैं स्वामी विवेकानन्द, अभेदानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि ने इधर जाकर जोकाम किया है वह किससे छिपा है। इस भौतिक उन्नतिसे अघाया हुआ पाश्चात्यमण्डल निवृत्तिलोलुप हो रहा है और भारत का मुख देख रहा है। अब ज़रा अपने घर की बात सुन लीजिये—भारतवर्ष न तो अपने पूर्वजों की मर्यादामें रहा न किसी नई मर्यादा को बान्धसका। त्रिशङ्कु की तरह या घटीयन्त्रके लम्बक की तरह सदा अस्थिर रहता चला आया। पाश्चात्य ज्ञानरविके किरणोंसे स्पर्श करनेके पश्चात् इसकी दशा अत्यन्त दोलायमान हुई और अब जो दशा है उसको आप स्वयं देख ही रहे हो।

१–अत्यन्त प्राचीन समय में परमपूज्य ऋषिलोग अवस्था-नुरूप प्रवृत्ति व निवृत्ति पर चलकर सुख उठाते थे। वर्णाश्रम व्य-वस्था इस बात का सुस्पष्ट प्रमाण है। प्रथम दो आश्रम प्रवृत्ति के लिये और शेष दो आश्रम निवृत्ति के लिये बने गये थे। २—इस के पश्चात् यज्ञों का समय आया और यज्ञों में ही इति कर्त्तव्यता समझी जाने लगी, निवृत्ति का नाम मिट चला तब उपनिषदों की सृष्टि हुई।

३—फिर समय आया कि सब लोग आध्यात्मिक सुखों की ही टटोल में रहने लगे, उनको संसार दुःखमय दिखाई देने लगा ऐसे समय में श्रीकृष्ण का अवतार हुवा और इन्हों ने प्रवृत्ति निवृत्ति के मध्यवर्त्ती बिन्दु कर्मयोगका आश्रय लिया।

तप मत करो, संन्यास मत लो, संसार में सड़ते रहो, ध्यान मत करो, योग को छोड़ दो—इत्यादि नहीं कहा–उनका मतलब यह था कि केवल शारीरिक तप का नाम तप नहीं है, केवल जंगल को भाग जाने का अर्थ संन्यास नहीं, अविवेक पूर्वक किया हुआ त्याग सच्चा त्याग नहीं है। कर्म फल छोड़ने का नाम संन्यास है। त्याग व संन्यास में इतना ही भेद है कि काम्य कर्मों को छोड़ना संन्यास व कर्मफल को छोड़ना त्याग है। गीता में ये बातें सुकररीति से समझाई गई हैं। इस उपदेश का परिणाम यह हुआ कि लोग मध्य बिन्दु पर आये। "पर कालगति के अनुसार यह मार्ग फिर लुप्त हुआ।" इधर अवैदिक बौद्ध भिक्षुओं का बल बढ़ने लगा, इन में अना-चार फैला, यत्र तत्र मठों की स्थापना होने लगी "तब मण्डन मिश्र आदि विद्वानों ने" खूब आन्दोलन कर संन्यास को कलि वर्ज्य ठहराया। फिर प्रवृत्ति चली, फिर संसार में वासना बढ़

चली "तब भगवान् शङ्कराचार्य ने" वैदिक संन्यासियों को योग्य स्थान पर लाकर बैठाया। और इस तरह फिर जनता मध्य विन्दु पर आई। फिर जब निवृत्ति का झोंका चढा तो "मध्वाचार्य" "रामानुजाचार्य" आदि आगे आये और प्रवृत्ति का मर्म समझा गये। इन के पश्चात् "वल्लभाचार्य ने" प्रवृत्ति को भयङ्कर रूप में परिणत किया, मूढ़ जनता में अनाचार फिर बढने लगा, फिर इस का झोंका दूसरी ओर गया सारांश प्रवृत्ति निवृत्ति के झोंके बराबर आते रहे, वर्त्तमान समय में प्रवृत्ति के नाम पर अनाचार फैलाने वाले लोगों, पन्थों व सम्प्रदायों की लीला का दमन " स्वा० दयानन्द " ने किया, इन के पश्चात् फिर निवृत्ति आई और "लोकमान्य तिलक" ने फिर प्रवृत्ति निवृत्ति के मध्यवर्त्ती विन्दु का उपदेश दिया। उधर बंगाल में व दक्षिण में इस से पूर्व भक्तिमार्ग खूब चल चुका था। शिवा जी के समय में " समर्थ रामदास " कर्मयोग के प्रवर्त्तक थे व तुकाराम भक्तिमार्ग के।

सरांश इन झोंको का मर्म यह है कि—

" प्रवृत्तिरपि धीरस्य, निवृत्तिफलभागिनी।
निवृत्तिरपि मूढस्य, प्रवृत्तिफलभागिनी॥ "

मूढ की निवृत्ति भी प्रवृत्ति ही है और धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के तुल्य निवृत्ति का फल देने वाली है। इसी तत्त्व को समझकर कर्म करते रहना चाहिये। हम आशा करते हैं कि भारतवर्ष के आशाङ्कुर नवयुवक अपनी जन्मभूमि की रक्षा उस के नाम को उज्ज्वल करने के लिये, अपने पूर्वजों की कीर्त्ति को सुरक्षित रखने के निमित्त सदैव तत्पर रहेंगे। गीता के अध्ययन व पर्यालोचन से अपनी मनोभूमिका को तैयार करेंगे तभी कल्याण है।

भक्तिमार्ग

११

गीता में जहां उज्ज्वल कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि का उपदेश आयाहै, वहां एक विशेषता यहहै कि "भक्तिमार्गका भी उपदेश है।" जगह जगह देखिये तो यही आता है-' हे अर्जुन मुझे याद कर और युद्धकर' - ' मेरी ही पूजा कर' - ' मेरी ही भक्ति कर ' - मेरी ही शरण में आजा ' — ' मुझे ही नमस्कार कर' ' मैं ही तुझे बचाऊंगा ' - ' जो मेरा भक्त है वही मुझे प्यारा है ' - गीता के ६ अध्याय में भक्तिमार्ग आया है अध्याय १२ में अधिक स्पष्ट है। "हमारी राय है कि ईसाइयों में जो भक्तिमार्ग है वह इसी भागवतधर्म की छाया है।"

' सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः, (१८-६६)

श्रीकृष्ण के इस वचन को देखिये व ईसाइयों की ईमान लाने वाली बात पर भी विचार कीजिये तो आप जान सकेंगे कि "ईमान की बात यहीं से ली गई है।" प्रश्न यह हो सकता है कि श्रीकृष्ण को इस भक्तिमार्ग के चलाने की क्या आवश्यकता थी? क्या भक्तिमार्ग के विना काम नहीं चल सकता था? हमारी समझ में केवल भारतवर्ष में ही क्या "संसारभर में भी भक्तिशून्य धर्म कभी स्थिर नहीं रहा है न रहेगा" भारतवर्ष तो धर्मप्रधान भूमिहै, धर्म को स्थिर रखने का एक मात्र उपाय श्रद्धा है क्योंकि-

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (१७—३)

पुरुष श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करेगा वैसा ही वह होगा या कहलायेगा, गीता के १७ वें अध्याय में श्रद्धात्रयविभाग

बतलाया गया है। फिर मनुष्य स्वभाव को समझिये, मूल प्रकृति के गुणों को भी सोचिये सत्व रज तम इन तीन गुणों के तत्व को समझकर, तीन प्रकार के आहार, उन के कारण, तीन प्रकार की बुद्धियाँ, तीन प्रकार की बुद्धियों के कारण, तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ, तीन प्रकार के कर्म, तीन प्रकार के ज्ञान, तीन प्रकार के तप, तीन श्रद्धाएँ, तीन यज्ञ, तीन फल इन सब पर दृष्टि डालने से पता लगेगा कि " अधिकारि-भेद से उपदेशभेद की आवश्यकता रहती है।" " सब की समझ में दिव्य ज्ञानयोग नहीं आ सकता" सब लोग उज्ज्वल कर्म योग को समझ नहीं सकते, सब लोग साम्यबुद्धि की महिमा को नहीं समझ सकते, सब लोग " कृष्णार्पणमस्तु " इस विधि को जान नहीं पाते-इसीलिये भक्तिमार्ग की आवश्यकता पड़ती है जिस से अटल भक्ति के बल पर मनुष्य शनैः शनैः आगे बढता चला जावे। अध्याय १२ में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं-

(१) मुझ में दृढ़ भक्ति रखकर मन को स्थिर करो यह न हो सके तो—

(२) मेरे पानेके लिये अभ्यासयोग करो यहभी न बन सके तो

(३) मेरे लिये कर्म करते रहो, मेरे लिये कर्म करते रहनेसे भी तुम्हें सिद्धि मिल सकेगी। इस तरहभी नहीं हो सकता तो

(४) मेरे आश्रयसे कर्मफलमें आसक्ति छोड़ कर कर्मयोग करो

श्रीकृष्ण ने अधिकारि भेद से हीये चार उपाय बताये हैं। भक्तिशून्य कोई भी पुरुष किसी धर्म में स्थिर नहीं रह सकता, चाहे जिस योग को कीजिये उसमें भक्ति का सम्पुट अवश्य लगाना पड़ेगा। इसीलिये भक्तिमार्ग का उपदेश है कि-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पापयोनि चाण्डाल आदि सबके

उद्धार की इच्छा से भक्तिमिश्रित ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग, भक्ति मिश्रित कर्ममार्ग, और शुद्ध भक्तिमार्ग का भी उपदेश किया है।

"ईसाई कहते हैं" कि ईसामसीह के बिना कोई तारनहार नहीं है, "मुसलमान कहते हैं" कि पैगम्बर पर ईमान न लाओगे तो नजात नहीं मिलेगी मानो नजात का ठेका इसी धर्म ने ले रक्खा है। "बौद्ध कहते हैं कि तथागत का कहना न मानोगे तो 'निर्वाण' नहींमिलेगा। 'जैनी कहते हैं' कि हमारे 'अर्हन्' ही मोक्ष दिला सकते हैं, याज्ञिक कहते हैं कि यज्ञ करनेवालों को ही स्वर्ग मिलेगा संन्यासी कहते हैं कि सन्यास के बिना मोक्ष कहां, "ब्राह्मण कहते है" कि वेदज्ञान न हो तो दुःखों से छुटकारा कैसे हो सकता है? जब यह दशा है तब जो ईसाई नहीं है, जो मुसलमान बनकर पैगम्बर पर ईमान नहीं लाते, जो बौद्ध या जैन फिलासफीको समझ नहीं पाते, जो यज्ञ नहीं कर सकते, जो वेदों को नहीं जानते, जो संन्यासतो दूर रहा, अपना ही आश्रम अच्छी तरह निभा नहीं सकते उन बेचारों का भी कोई उपाय है या नहीं? उन के लिये भी कोई रास्ता है या नहीं? "कृष्ण के भक्तिमार्ग में यही एक विशेषता है कि वह स्पष्ट कहता है कि मनुष्य चाहे जिस जाति या मत का हो", परमेश्वर की उन्नत विभूतियोंमें से किसी एक विभूति की भक्तिसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसी उदात्त तत्व के कारण श्रीकृष्णके उपदेशकी छाप संसार पर पड़ी है। उत्तर भारत में तुलसीदास, बंगाल में चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, दक्षिण में (महाराष्ट्र) तुकाराम आदियों ने भक्तिमार्गमें पराकाष्ठा करदी है। इसी भक्तिप्रदीप के कारण भारतवर्ष अब तक संभला रहा है। हिन्दू या आर्य धर्म के तत्व को जानना

हो तो पूर्व 'भक्तिमार्ग' को समझ लीजिये। अध्याय १२ में "मुझे अपना भक्त प्यारा है"-'मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता कभी दुर्गत नहीं होता'-आदि वाक्य स्मरण रखने योग्य हैं। अध्याय ६ में कहा है-

"यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (६—२७)
शुभाशुभफलैरेवं, मोचयसे कर्मबन्धनैः ॥ (६ २८)

जो कुछ करते हो, खाते पीते हो, यज्ञ-याग करते हो, जो कुछ लेते देतेहो, जो कुछ तप करतेहो सबकुछ मेरे अर्पण करते रहो-इससे तुम शुभअशुभ फल देने वाले कर्म बन्धनोंसे साफ छूट जाओगे-

यह इतना प्रबल वाक्य है कि इसकी प्रबलता को वे ही अनुभव कर सकते हैं जो थोड़ी बहुत भी 'ईश्वरार्पण' विधि को जानते हैं।

कर्मयोग क्या कहता है?

(१२)

"फलासक्ति छोड़ो"

जगत् में आकर मनुष्य का क्या कर्तव्य है! यह एक विकट प्रश्न हैं। संसार भर के तत्ववेत्ता समानरूप से अनन्त काल से इसी प्रश्न की उधेड़ बुन में लगे हुये हैं। कर्म क्या है अकर्म क्या है, विकर्म क्या है? इसका समझना कठिन है पर गीता ने इन प्रश्नोंपर इतना अच्छा प्रकाश डाला है कि उस से स्वाध्यायशील पुरुष स्वल्पकाल में ही सब कुछ समझते हैं गीता के अटल सिद्धान्त ये हैं:—

१—मनुष्य क्षणभर भी खाली नहीं रह सकता, प्रकृति के गुण सत्व, रज तम मनुष्य से जबरदस्ती कर्म कराते रहते हैं
२—जो बाह्य इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों)को रोककर भीतर ही भीतर मन से विषयों को सोचता रहता है वह मिथ्याचार है वल पुरुष को ठाली बैठा है कुछ नहीं करताहै ऐसा नहीं कह सकते।
(३) जो कर्मेन्द्रियों को मनसे रोककर, शमदमादि से युक्त होकर असक्त रहताहुआ कर्मकरता रहता है वही विशिष्ट पुरुष है, वही कर्मयोगी है।
(४) न तो खाली कामको शुरू न करने से पुरुष 'ठाली' कहलाया जा सकता है। और न केवल कर्म छोड़ देने से ही किसी को सिद्धि मिलसकती है।

तृतीय अध्यायमें प्रतिपादित कर्मयोग की पुष्टि १८ वें अध्यायमें सुचारुरूप से की गई है। पाश्चात्य विद्वान् भी नं१-२—३ तक पहुंचचुके हैं नं० ४ अबतक उनकी समझ में नहीं आया। प्रकृतिके उपासकों केलिए "असक्त रहकर कैसे कर्म किये जाँय" यह एक गूढ समस्या है। इस समस्या को वे अब तक हल नहीं कर सके। 'संन्यास' व 'त्याग' के भेद व मर्म को वे अबतक नहीं समझपाये हैं। सात्विक, राजस, तामस त्यागको भी अबतक वे भली भान्ति समझ नहीं पाये। कृष्ण का पक्का सिद्धान्त यह है कि आप चाहे ज्ञानमार्ग से चलिये, या संन्यास मार्ग पर जाइये चाहे यज्ञमार्ग पर चलिये, चाहे भक्तिमार्ग को लीजिये, 'कर्म' का पचड़ा लगाही रहेगा। इस लोक का कर्मों के साथ बन्धन लगा हुआ है (लोकोऽयं कर्मबन्धनः) नियत और प्राप्त कर्मों को छोड़ नहीं सकते। प्रमदा से कर्म को छोड़ बैठने वाले लोग तामस प्रकृति के होते हैं।

स्वभाव प्राप्त कर्म से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता इसलिये यहाँ सदोष निर्दोष का विचार करना ही व्यर्थ है। जैसे अग्नि के साथ धुआँ लगा रहता है इसीप्रकार कर्मों के साथ दोष लिपटे रहते हैं। इसलिये दोष होने पर भी सहज या स्वभावज कर्म करना ठीक ही है कर्म-अकर्म को दो प्रकारसे जान सकते हैं—

(१) शुद्ध सात्विक पुरुष अपनी सात्विक बुद्धि से जानलेतेहैं।

(२) अन्यों को शास्त्र प्रमाण से चलने से ज्ञात हो सकताहै।

श्री कृष्ण कहते हैं—

सिद्ध सिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

सिद्धि असिद्धि में समबुद्धि से काम करने का नाम कर्म योग है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर॥

इसलिये असक्त रहकर—अहंभाव छोड़कर-कर्म करते रहो। परन्तु यह एक अत्यन्त कठिन बात है कि सिद्धि की आकांक्षा न रखकर "फलमें आसक्ति छोड़कर किस तरह कर्म किया जाय"। फिर जब फलकी आशा ही नहीं रखनी है तो सहज-स्वाभाविक कर्म या अन्य अपेक्षित धर्म-कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है? जब फल का बन्धन टूटा तब काम करेगा ही कौन? उत्तर यह है कि संसार में सब प्राणी अपना काम करते रहते हैं तो भी सबको उसका फल नहीं मिलता-रात दिन का यह अनुभव है तो क्या किसी कर्मका फल न मिलने से लोग कर्म छोड़ बैठते हैं? हम देखते हैं वे फिर प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार कइयों को सहज ही में फल मिल जाता है। यह है अदृष्ट=धर्म अधर्म की मीमांसा। इसलिये

यही सिद्धान्त ठीक है कि केवल धर्मबुद्धि से धर्म करते रहने से ही अधिक सन्तोष मिल सकता है। "यही उच्च सिद्धान्त है" फल के लिये मरने वाले या उसके लिये कर्म करने वाले लोग व्यापारी तत्त्व के अनुसार काम करते रहते हैं-ऐसे पुरुष मध्यम कोटि के हैं। जिनको यही खबर नहीं कि वे क्या कर रहे हैं, क्यों कररहे हैं, आगे इससे क्या होगा वे निकृष्ट श्रेणि के लोग हैं। युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा है कि—

धर्मं चरामि सुश्रोणि, न धर्मफल कारणात्।
धर्म-वाणि ज्यको हीनो, जघन्यो धर्मवादिनाम्" ॥

हे द्रौपदि! मैं केवल धर्म इसलिये करता हूं, कि वहधर्म है न किकिसी फलकी लालसा से; धर्म का व्यापार करने वाले लोग ही फल की लालसा में प्रवृत्त होते रहते हैं। केवल ड्यूटी के लिये ड्यूटी को अदा कर वाले पुरुषों की उदात्त कल्पना कीजिये और दूसरी ओर, पेटपूजा, लालच, नाम आदि के लिये। इन दो प्रकार के लोगों में उदार या उदात्त कौन ठहरेगा? एक और बात ध्यान देने योग्य है—वह यह कि कर्म के तीन फल मिलते हैं १—इष्ट (सुख) २—अनिष्ट (दुःख) ३—मिश्रित (सुखदुःख) पर ये किसके लिये जिसकी दृष्टि फल पर रहती है उसके लिये। और जिसने फल की आशा को छोड़ रक्खा है और जो केवल ड्यूटी के ख्याल से ड्यूटी कररहा है उसको चाहे अच्छा फल मिले, उलटा फल मिले, कोई फल न मिले एकसी ही बात है। उसको दुःख किस बात के लिये होगा। स्मरण रखिये फलके मिलने में पाँच कारण होते हैं १—अधिष्ठान २ कर्त्ता ३-करण ४-विविध चेष्टा ५-दैव (ईश्वरेच्छा)। इससे स्पष्ट है कि कर्म फल केवल हमारे हाथों में

नहीं है. इसीलिए संसार का अनुभव है कि समान कर्म व समान परिश्रम करने वालों में किन्हीं को फल मिलता है किन्हीं को नहीं। कभी सुलटा काम उलटा और उलटा सुलटा होजाता है-इसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है? मनुष्य को उचित है कि वह अहंभाव में न फंसे क्योंकि कर्मफल का लाना केवल उसके हाथमें नहीं है और चार कारण भी हैं इसलिये फलाफल पर दृष्टि न देकर कर्म करते रहना ही श्रेयस्कर है-कर्मयोग की यही विशेषता है—"इस गहन तत्त्व को "संसार के संमुख स्पष्ट रूपमें रखने का श्रेय श्रीकृष्ण जी को देना चाहिये"। युधिष्ठिर ने द्रौपदी को क्या ही सुन्दर शब्दों में कर्मयोग समझाया है—

> नाहं धर्मफलाकाङ्क्षी राजपुत्रि चराम्युत।
> ददामि देयमित्येव राजपुत्रि! चराम्युत॥

'राजपुत्रि, मैं किसी फलकी आकाङ्क्षा अथवा लालसा (मतलब) से धर्म नहीं करता। दान करना धर्म है इसलिये दान करता हूं।

> अस्तु वात्र फलं मावा कर्त्तव्यं पुरुषेण तत्।
> गृहे निवसता कृष्णे! यथाशक्ति करोमि तत्॥

फल मिले या न मिले, करना धर्म है इसलिये यथाशक्ति करता रहता हूं।

> धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात्।
> आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च॥
> धर्म एव मनःकृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
> धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥

मैं वेदशास्त्रों के वचनानुसार, अथवा सदाचार के नियमों को देखकर केवल कर्त्तव्य बुद्धि से धर्म करता रहता हूं मैं

फलकी लालसा से धर्म का व्यापार नहीं करता किन्तु धर्म करना मेरा स्वभाव ही होगया है।

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात्पापचेतनः॥

जो धर्म को दोहना चाहता है उसको धर्म का फल नहीं मिलता नहीं उस पापी संशयात्मा को कुछ मिलता है जो धर्म करके उसमें शङ्का करता है।

कर्मणां फलमस्तीति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति।

* * * *

बहुनापि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः।
तेषां न धर्मजं किञ्चित् प्रेत्य कर्मास्ति शर्म च॥

मैं चाहूं या न चाहूं किया कर्म खाली नहीं जायगा इस विचार से बुद्धिमान् पुरुष थोड़े फलसे भी सन्तोष कर लेता है। और अधकचड़े, निर्बुद्धि या अल्पबुद्धि लोगों को यहां भी कुछ नहीं मिलता और न मृत्यु के पश्चात् दूसरे जन्म में भी सुख हाथ लगता है।

कर्मणामुत पुण्यानां पापानां च फलोदयः।
प्रभवश्चाप्ययश्चैव देवगुह्यानि भामिनि॥
नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्त्यत्र इमाः प्रजाः॥

शुभ या अशुभ कर्मों का फल सर्वथा दैवाधीन है, देवगुप्त है अर्थात देव से गुप्त (रक्षित) है। जो इस तत्व को नहीं समझता वह मोह में पड़ा है और यह प्रजा भी इस तत्व को नहीं समझती तभी दुःखी रहती है। इसलिये हे द्रौपदि !

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं चैव मा क्षिप।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी॥

सब भूतोंके स्वामी जगदन्तर्यामी परमात्मापर आक्षेप मतकर

सब कुछ उसके अर्पण कर और उसीको हाथ जोड़। तेरी इस प्रकार की उलटी बुद्धि न रहे।

कर्मयोग का सुन्दर स्वरूप इस द्रौपदी-युधिष्ठिर संवाद में आ चुका है। हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे वन पर्व में इस संवाद को विचार पूर्वक एक बार देख जांय। इस के वाचन से कर्म का मर्म समझ कर वे कर्मयोगी बनने का यत्न कर सकेंगे।

एक बड़ी शङ्का

(१३)

यहां एक बड़ी शङ्का यह हो सकती है कि जब कर्मकी सिद्धि असिद्धि का कोई नियम नहीं. कोई निश्चय नहीं, जब फल दैवगुप्त है, उलटा सुलटा करना दैव के हाथों में है तब कर्म का महत्व ही क्या रह गया? कर्त्तव्य का कर्त्तव्यत्व ही क्या है। फिर कर्म ही करो और अकर्म या विकर्म को छोड़ो यह नियम कैसे चलेगा। लोग मनमाना न करने लगेंगे? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र प्रतिपादित कर्म का नाम कर्त्तव्य है। और शास्त्र उन एकत्र समुदित नियमों का नाम है जोकि हमारे सदाचारी दूरदर्शी पूर्वजों ने अपने नियमों से बनाये हैं। यदि नियम रूप शास्त्रों को छोड़ दिया जाय तो भी सात्विक बुद्धि का पुरुष कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय अन्तःकरण की प्रवृत्ति से कर सकेगा। कहा भी है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

विकट समय में मनुष्य की अकलुषित सात्विकी बुद्धि जो कुछ करने के लिये कहे उसको निःशङ्क कर डालना चाहिये। यह एक प्रकार से ईश्वरीय प्रेरणा है। संसार में इसे ईश्वरीय

प्रेरणा के पचासों दृष्टान्त हो गये हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों को संसार में प्रतिदिन के अनुभव से यह बातें दीखती रहती हैं। इस ईश्वरीय प्रेरणा को ईश्वरीय आज्ञा भी कह सकते हैं। इसी प्रकार फल पर दृष्टि न रखकर मनुष्य काम कर सकता है।

श्रीकृष्ण के कर्मयोग में ईश्वरार्पण भी एक भाग है। यह कर्मयोग की विशेष विशेषता है। ईश्वराज्ञा से कर्म करने वाले और कर्म करने के पश्चात् सब कुछ ईश्वरार्पण करने वाले पुरुष को फल मिले न मिले, उलटा पड़े सुलटा पड़े क्या परवाह है। इस प्रकार कर्म करने वाला पुरुष सात्विक कहलाता है। ऐसे सात्विक पुरुष सब देशों व सब समयों में हुए हैं, अभी हैं—ढूंढने वालों को और आंखों से देखने वालों को मिल सकते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते (१८— २६)

संग, अहंभाव को छोड़कर धृति व उत्साह युक्त होकर, कर्म करने वाला व सिद्धि व असिद्धि दोनों दशाओं में सम भाव रखने वाला निर्विकार पुरुष सात्विक कहलाता है।

श्रीकृष्ण ने अपने कर्मयोग में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया है। गीता में स्थान स्थान पर अहिंसा का उपदेश मिलेगा इससे यह सिद्ध है कि बुद्धों ने "अहिंसा" का तत्व गीता से लिया। गीता ने वेदों व उपनिषदों से लिया।

क्या कृष्ण का आचरण उपदेशानुसार था?

(१४)

कोई कोई उपर्युक्त प्रश्न उठाते हैं। इस प्रश्न का सीधा सर-

ल उत्तर यह है कि ("हां अवश्य था") इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है। कृष्ण की उक्ति व कृतिमें यत्किञ्चित् भी भेद नहीं दीख पड़ता। कहा जा सकता है कि जिसने भारतीय युद्ध में कौरव—पाण्डवों को आपस में भिड़ाया था, मौके मौके पर कूट नीति से काम लिया जिसने व्यर्थ ही इतना बड़ा संहार करवाया, अनेक पुराणों में जिसकी अनेक बीभत्स लीलाओं का वर्णन आता है, जो कृष्ण गोपीविलासप्रिय है क्या वह कर्मयोगी हो सकता है? क्या उसकी उक्ति व कृति में भेद नहीं है। इत्यादि

इतिहास को देखने वाले व श्रीकृष्ण चरित्र का मनन करने वाले इस प्रकार के सन्देह नहीं कर सकते। कृष्णचरित्रको ऊपर ऊपर से पढ़ने वाले और आद्योपान्त भारतीययुद्ध का सूक्ष्म निरीक्षण न करने वाले ही ऐसी कल्पनाओं को खड़ा किया करते हैं। गोपीविलास के विषय में हम पूर्व कह आये हैं कि वह आक्षेप वृथा है। प्रमाण पूर्वक सिद्ध किया जा सकता है भारतीय युद्ध के समय श्रीकृष्ण की १६१०८ स्त्रियों के होने का न कहीं उल्लेख था न प्रवाद। हम यह कह चुके हैं कि यह १६१०८ का पुछल्ला कृष्णद्वेषी जैनियों ने लगाया था। इस के पश्चात् पुराणों की सृष्टि हुई पुराण कवियों ने श्रीकृष्ण के इस अपवाद को मिटाने के लिये श्री कृष्ण को अवतारी पुरुष, विष्णु का अंश बनाकर जैनियों के आक्षेपको भगवान् की लीलारूप में परिणत किया। जिस से लोगों की दृष्टि में श्रीकृष्ण का महत्व और भी बढ़ा और जैनी देखते के देखते रह गये। पीछे से कई कवियों व विद्वानों ने कृष्णलीला को गूढ़ वेदान्त रूप में परिणत किया। श्रीकृष्ण के महत्त्व के साथ ही भागवत धर्म का भी उदय हो गया इतना

"कि इस महत्त्व के आगे सब अन्य धर्मों का तेज फीका पड़ गया।" और लीला का अलौकिक रूप होकर वह कृष्णलीला महत्त्व के रूप को धारण कर गई और श्रीकृष्णचरित्र पर अनेक सुन्दर काव्यों की सृष्टि हुई। इस लीला का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उस को आध्यात्मिक रूप दे दिया गया। कृष्ण की दिव्य विभूतियों का वह द्योतक माना गया। "जयदेव ने गीतगोविन्द' नामक सुन्दर काव्य बनाया है वह लोगों को इतना प्रिय है कि उस को पढ़कर लोग तल्लीन हो जाते हैं।" इस काव्य का सर्वत्र प्रचार है। सारांश श्रीकृष्ण शुद्धचरित्र के पुरुष थे। और उन के विषय में वृथा विपरीत अनुमान करना अल्पबुद्धि वालों का काम है। हमारी समझ में पुराणकवियों ने इस प्रकार जैनियों की माया को मिटाकर अच्छा ही काम किया है। उन को धन्यवाद ही देना चाहिये।

"अब दूसरा आक्षेप यह है कि" श्रीकृष्ण अन्य प्रसङ्गों पर और विशेषतः भारतीय युद्ध में छल कपट कूटनीति का आश्रय लेकर युद्ध कराते रहे हैं। वे कैसे कर्मयोगी हैं? धर्म युद्ध का नियम है कि सीधी तरह करने वालों के साथ सीधी तरह लड़ना और टेढ़ी चाल चलने वालों के साथ टेढ़ापन करना चाहिये। इस तरह न चला जाय तो संसार में सरल लोगों का गुजारा नहीं हो सकता। कम से कम विपत्ति में कुटिल लोगों के घातों से बचना तो प्रत्येक का कर्त्तव्य है। दूसरी बात यह है कि कुरुक्षेत्र में युद्ध करना था, वहाँ योगियों की समाधि तो चढ़ानी थी ही नहीं। तीसरी बात यह है कि श्री कृष्ण क्षत्रिय थे क्षात्रधर्म के अनुसार कुटिल लोगों के दमनार्थ जो कुछ करना था, वह उन्होंने किया। 'आक्षेप करने वाले लोग यह ध्यान में रक्खें कि श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे," यह ध्यान

में रक्खें कि उन का अत्यन्त हठी कुटिल शत्रु से पाला पड़ा था यह भी ध्यान में रक्खें कि श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर का पक्ष लिया था, यह भी ध्यान रक्खें कि कृष्ण ने केवल अर्जुन का सारथि होना स्वीकार किया था। उन्हों ने अपने हाथों से किसी को नहीं मारा, एक दो वार सुदर्शनचक्र उठाया था। वह केवल अर्जुन को सचेत करने के लिये, साथ यह भी विचारें कि दुर्योधनादि ने छोटे पन से ही पाण्डवों के साथ क्या क्या अत्याचार किये. इन सब बातों को विचार कर क्षात्र धर्म के नियमों को देखकर फिर आक्षेप करें। फिर यह भी सोचिये कि ऋजुयुद्ध (सरल युद्ध) के नियमों का भङ्ग प्रथम किधर से हुआ। महाभारत स्पष्ट बतलाता है कि अभिमन्यु के वध में कौरवों ने ऋजुयुद्ध को छोड़कर अनृजुयुद्ध (कुटिल युद्ध का) आश्रय लिया, ऋजुयुद्ध के नियमों को तोड़कर अकेले अभिमन्यु के साथ छः महारथी जुट गये, द्रोणादि ने उस समय बहुत अन्याय किया, दुर्योधन के कहने से यह सब कुछ हुआ तब सोचिये कि पाण्डवों का या कृष्ण का क्या दोष ! "अन्यायी, आततायी को जैसे हो मार डालना धर्मयुद्ध ही है—

इतनी बातों को सोचने के पश्चात् यह और देख जाइये कि श्रीकृष्ण ने युद्ध को टालने व समझौता करने का यत्न किया या नहीं ? महाभारत स्पष्ट बतला रहा है कि श्रीकृष्ण शान्ति स्थापना के लिये स्वयं दूत बन कर गये पर वहाँ दुर्योधन ने उन के साथ कैसा उद्धतता का बर्त्ताव किया ! दूतों को बान्धना धर्मविरुद्ध है पर दुर्योधन ने इस बात की चेष्टा की कि कृष्ण को बांध डाला जाय। विदुर के घर में श्रीकृष्ण आये तब "विदुर ने उन से कहा था कि" 'आप का दूत बन

कर आना ठीक नहीं हुआ, आप का बीच में पड़ना ठीक नहीं है, दुष्ट दुर्योधन जीते जी नहीं मानेगा। "श्री कृष्ण का उत्तर पढने योग्य है" —'विदुर ! तुम ठीक कहते हो पर विचारो तो सही कि युद्ध के टलने से इतने असंख्य प्राणियों की जान बच जायगी तो यह अनन्त पुण्य मुझे ही तो मिलेगा। यदि इस समय यत्न न किया जायगा तो लोग पीछे कहेंगे कि श्री कृष्ण चाहता तो युद्ध टल जाता पर उसने यत्न नहीं किया इसलिये मैं दोनों का हित साधना चाहता हूं। यदि धृतराष्ट्र वा दुर्योधन नहीं मानेगा तो कम से कम संसार के संमुख में तो निर्दोष सिद्ध हो जाऊंगा। और फिर पाण्डवों का साथ देकर इन आततायियों का नाश करूंगा' (उद्योगपर्व अ० २६-४८) विदुर को यह युद्ध पसंद नहीं आया। आगे सभा में सब सभासदों के संमुख, ऋषि मुनि, देवता और कौरव पक्षीय राजाओं के संमुख कृष्ण ने जो वक्तृता दी है वह एक मार्के की वक्तृता है। उस को सुन कर सब सभ्यों की यही राय हुई कि पाण्डवों का भाग पाण्डवों को मिलना चाहिये। पर दुर्योधन-दुःशासन-कर्ण-शकुनि इस चौकड़ी की समझ में नहीं आया इसलिये युद्ध का कारण कृष्ण नहीं है श्रीकृष्ण ने शान्ति स्थापना का पूर्ण उद्योग किया यहाँ तक कहा गया कि 'पाण्डु पुत्र क्षत्रिय हैं, क्षत्रिय भिक्षावृत्ति नहीं कर सकते अतः उन को पाँच गाँव ही दे दो' पर हठी दुर्योधन पाँच गाँव तो क्या सुई की नोक जितनी भूमि देने को भी उद्यत नहीं था, तब कहिये युद्ध में कृष्ण का क्या दोष ? इतनी बातों पर क्रम से विचार कीजिये—

१—अन्ध धृतराष्ट्र का पुत्रमोह व उसकी कुटनीति बातें।
२—दुर्योधन का तीव्र अमर्ष और राज्यलोभ।
३—पाण्डवों को जला डालने का प्रयत्न।
४—द्यूत, अनुद्यूत के समय का महा अधर्म शकुनि की माया, धृतराष्ट्र की चुप्पी।
५—उस कारण से पाण्डवों का वनवास।
६—वनवास में पाण्डवों को कष्ट पहुंचाने में दुर्योधन का प्रयत्न।
७—कुरुसभा में पाण्डवदूत कृष्ण का अपमान।
८—युद्ध के समय में सबसे पूर्व कौरवों की ओर से युद्ध नियम का भङ्ग—और अनेक छल बल।

अब बतलाइये श्रीकृष्ण का क्या दोष?

"दूसरी बात यह है"—"क्षात्रधर्म स्पष्ट कहता है" कि अन्यायी राजाको जिसकिसीभी उपायसे हो, छोड़ना नहीं चाहिये। शान्तिपर्व में भीष्मोपदेश को पढ़िये मनुस्मृति को देखिये, बार्हस्पत्य को पढ़िये, वैशालाक्ष को विचारिये, बाहुदन्त का देख डालिये, शुक्राचार्य से पूछिये-सब नीतिशास्त्र इस विषय में पूर्ण सहमत हैं। आजकल के अंगरेजी जानने वाले लोग कृष्ण को इटली के विचक्षण नीतिज्ञ "मैकव्हेली" की उपमा देते हैं यह भी लोगों की भूल है। मैकव्हेली कोरा कूटनीतिज्ञ था। अर्थशास्त्र के प्रणेता "चाणक्य" (कौटिल्य) से उसकी उपमा होसकती है। श्रीकृष्ण को केवल युद्ध में ही क्षात्रधर्मानुसार थोड़ा कौटिल्य करना पड़ा नहीं तो "कहाँ कृष्ण कहाँ मेकव्हेली" कहाँ राजा भोज कहाँ गाँगा तेली कहाँ प्रकृतिका सोलह आने उपासक मेकव्हेली, कहाँ धर्म व सदाचार की मूर्ति कृष्ण,—कर्मयोगी कृष्ण, जहाँ जिस देश में

बड़े बड़े पेड़ नहीं होते वहाँ एरण्ड का पेड़ भी बहुत माना जाता है—इटली देश में या यूरोप में मेकव्हेली का मान होगा पर—कहाँ कृष्ण, कहाँ मेकव्हली ! कहाँ आकाशगङ्गा का स्रोत और कहाँ पातालगङ्गा का प्रवाह ! "तीसरी बात यह है" कि भारतीय युद्ध में जिसने इतनी खून खराबी की या कराई वह अहिंसा का उपदेष्टा क्योंकर माना जा सकता है। आक्षेप करनेवाले महानुभाव सोच विचार कर आक्षेप नहीं करते। श्रीकृष्ण ने स्वयं स्पष्टशब्दों में कहा है कि—"स्वाभाविक कर्म सदोष भी हों तो भी नहीं छोड़ना चाहिये, हाँ सिद्धि—असिद्धि, लाभ—हानि का विचार छोड़कर समबुद्धि से प्रवृत्त होना चाहिये।"—श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे इसलिये युद्धरूपी क्रूरकर्म सदोष होनेपर भी क्योंकर छोड़ सकते थे-विशेषतः जबकि अन्यायियों से पाला पड़ा हो। इसमें उनका अपना स्वार्थ नहीं था। सत्य की रक्षा, धर्म की रक्षा, उचित अधिकार की प्राप्ति, मित्रों की सहायता, दुष्टों का नाश, अन्याय का दलन आदि उच्च कर्त्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर युद्धमें प्रवृत्त हुए उन्होंने स्वयं शस्त्र नहीं उठाया. अन्त तक अर्जुन के सारथि बने रहे। इसलिये हम कह सकते हैं—निः संकोच कह सकते हैं कि. श्रीकृष्ण जी की उक्ति व कृति में भिन्नता कभी नहीं हुई, कभी नहीं हुई।

——o——

श्रीकृष्ण के उपदेश का मर्म।

(१५).

श्रीकृष्ण चरित्र अग्नि में तपाये सुवर्ण की भाँति उज्ज्वल है। श्रीकृष्ण के उपदेश को समझने के लिये एक और बातपर

भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह कि "अच्छे गुणों का अतिरेक भी दोष होजाता है" इसी लिये 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' यह संस्कृत की लोकोक्ति सर्वत्र प्रचलित है। ज़रा सोचिये, अतिशय दानी बनकर घरवार के लोगों को भूखा मारने वाला पुरुष धर्मात्मा है या नहीं ? इसीप्रकार सब विषयों में देखिये। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र या कौटिल्यशास्त्र में इन्द्रिय जय' नामक अध्यायमें अतिक्रोध, अतिलोभ, अतिमद आदि "अति" के सुन्दर दृष्टान्त दिये हैं। महाभारतकारने भी बड़ी ही सुन्दरता से यह बतलाया है कि इस प्रकार के "अतिरेक दुर्गुण हो हैं। चलिये नम्बर से देखिये—

१—युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा थी कि यदि उसको कोई ललकारेगा तो वह कभी भी नहीं रुकेगा। केवल युद्ध के लिये यह प्रतिज्ञा होनी चाहिये थी—प्रतिज्ञा की मर्यादा जुए तक पहुंची उसका परिणाम यह हुआ कि वह द्यूत' 'अनुद्यूत' में राजपाट सब गवाँ बैठा। भीमने वन पर्व में युधिष्ठिर को अच्छा, ताना दिया है कि इस तरह जब चाहे जो चाहे बुरे से बुरे काम के लिये ललकारेगा और तू रुकेगा नहीं और राज्य छिन जाया करेगा। युधिष्ठिर स्वयं अपनी इस कमज़ोरी को समझता था। हमारी समझ में प्रतिज्ञा पालन करना धर्म है पर इस तरह प्रतिज्ञा को मर्यादा के बाहर लेजाना अनुचित है "युधिष्ठिर की 'अति' के कारण" पाण्डवों को कितना कष्ट उठाना पड़ा !!

२—"अब कुन्ती की 'अति' लीजिये"। जब पाण्डव द्रौपदी को साथ लेकर स्वयंवर से लौट आये तब उन्होंने माता से कहा कि भिक्षा लाये हैं। माता ने द्रौपदी को अभी देखा भी नहीं था। द्रौपदी कहीं बाहर खड़ी होगी। माता ने समझा कि

प्रति दिन की भांति अन्नभिक्षा लाये होंगे अतः सहज स्वभाव से कहा कि 'बाँट कर खाओ'। पीछे से जब द्रौपदी को देखा तब बेचारी हड़ बड़ाई कि मुँह से क्या निकल गया। समझदार होकर भी युधिष्टिर से यही बात कहती रही कि आज तक मेरी बात कभी झूठी नहीं हुई। जिस तरह मेरी बात बनी रहे वैसा करो। मातृभक्त युधिष्ठिर ने आज्ञापालन की और परिणाम यह हुआ कि द्रौपदी के एक के पाँच पति हुए।

कुन्ती सत्यवादिनी थी यह बात सत्य है पर यहाँ हठ करने में कुन्ती ने 'अति' की"। "मातृभक्त पाण्डवों ने आज्ञापालन में 'अति' की", यह दुर्गुण ही है।

इनकी इस 'अति' से बेचारी द्रौपदी को कितना कष्ट हुआ? एक बार तो किसी से उसने स्पष्ट शब्दों में कह भी डाला था कि–"एक ही पतिको खुश रखना कठिन हो जाता है मेरे तो पाँच पति हैं"–

कुन्ती व पाण्डवों की अति' का परिणाम यह भी है कि लोग आजतक यही शङ्का करते चले आ रहे हैं कि धर्मात्मा पाण्डवों ने यह क्या अनर्थ किया।

जब राजा द्रुपद को इस बात का पता चला तो वह भी पाँचो के साथ द्रौपदी के फेरे डलवाने को तैयार न हुआ। उसने स्पष्ट कहा कि कुलमर्यादा व धर्म के विरुद्ध होने के कारण वह कदापि ऐसा नहीं कर सकता। पीछे से व्यास जी ने पूर्वजन्म का वृत्तान्त व भवितव्यता की रामकहानी सुनाकर उसको राज़ी किया। पाण्डव जबरदस्त थे; बात निभगई, सच कहा है 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं"।

वस्तुतः यह होना चाहिये था कि कुन्ती को अपना कहा वापस लेना चाहिये था। वह ज़िद पर उतरती तो पांडवों को निषेध कर देना चाहिये था केवल अर्जुनका ही द्रौपदी पर अधिकार था, उसी को वह मिलनी चाहिये थी। पर जिधर देखो 'अति' थी। इस 'अति' के मारे कुन्ती चुप थी, युधिष्ठिर चुप था, भाई भी चुप थे—अर्जुन भी चुप था और बेचारी द्रौपदी तो हैरान भी और चुप भी।

३- शिखण्डी पर शस्त्र न उठाने की भीष्म की प्रतिज्ञा भी अतिरेक का सुन्दर दृष्टान्त है। बेशक पुरुषों को स्त्रियोंपर हाथ न उठाना चाहिये। इस जन्म में शिखण्डी पुरुष था। भीष्म कहते थे कि पूर्व जन्म में वह स्त्री था या इसी जन्म में स्त्री का पुरुष बना है अतः इस पर हाथ नहीं उठाऊंगा यह मर्यादा का अतिरेक नहीं तो क्या है। चुपचाप शिखंडी की मार खाते हैं और हंसते जाते हैं। धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि चाहे स्त्री हो या बालक, गुरु हो या और कोई हो जो आततायी है उसको बिना विचारे मार डाले। इस धर्म शास्त्र की आज्ञा के उल्लङ्घन करने से जो परिणाम हुआ उस को जग जानता है।

४- द्वन्द्व युद्ध में यह नियम है कि एक समयमें एक के साथ अनेक न जुटें। यह नियम व्यक्तियों के विषय में है पर जब समुदाय समुदाय से भिड़ रहा हो तब यह नियम नहीं लग सकता नहीं तो बड़ी संख्या वाले शत्रु न्यून संख्या वाले शत्रुको शीघ्र ही हड़प कर जायंगे। इस तरह पाण्ड-वों का मिलकर अकेले भीष्म पर टूट पड़ना अधर्म नहीं कहा जासकता। पर यदि पाण्डव यहां भी 'अति धर्म' पर डटे रहते तो राज्य से हाथ धो बैठते। हमारी समझ में यहां

'अति'का सहारा न लेनेमें पाण्डवों ने बुद्धिमत्ता ही दिख-लाई। इस तरह सरल युद्धका नियमभङ्ग कौरवोंकी तरफ से ही हुआ था। यदि पाण्डव मौका देख कर काम न करते तो खो बैठते।

५—'अश्वत्थामा हतः' अश्वत्थामा मारा गया ऐसा कहकर और चकमा देकर द्रोणसे अस्त्र शस्त्र छुड़ानेमें भी पाण्डवोंने बुद्धिमत्ता ही दिखाई। अभिमन्युके साथ छःमहारथी जुटेथे उसमें द्रोण भी थे, उस समय द्रोणनेजो अन्याय किया उसका बदलाइसतरहलिया गया। इसलिये पाण्डव निर्दोषहैं। यदि पांडव यहांभी द्रोणको गुरु समझकर छोड़देते तो 'अति'का अतिरेक हो जाता। अभिमन्यु को हराने के लिये दुर्योधन के कहने से द्रोणाचार्य ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। ब्रह्मास्त्र का छोड़ना सरासर अधर्म था। 'कृष्ण जी 'अति' के मर्मको खूब समझते थे अतः 'अति' धर्म पर नहीं चले वह युद्ध का समय था। महात्माओं का अखाड़ा नहीं था। कर्ण पर्व में सत्यानृत की मीमांसा देखिये।

६—भीष्म ने पाण्डवों को अपने पराजय का उपाय स्वयं बत-लाया। इसी प्रकार द्रोणाचार्य ने भी किया 'यह' अति'का अतिरेक नहीं तो क्या है।

७—कर्ण के रथ का पहिया जमीन में धस गया था उसी समय उसको मार डालने में अर्जुन ने बुद्धिमत्ता ही की। कर्ण ने अर्जुनसे कहा "भाई! ज़रा धर्म को भी सोच लो" तब कृष्ण ने क्या ही सुन्दर मुँहतोड़ उत्तर दिया है। कर्णपर्व देखिये।

८—रामायण में राम द्वारा ताड़का के मारे जाने का उल्लेख है लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा की नाक कटने का उल्लेख है। इन

का उत्तर यही है कि वे दोनों आततायिनी थीं अतः उन को जो दण्ड मिला उचित ही था।

६-इसी तरह एक धोबी या कुम्हारके कहनेसे सीताको घन-वास देने में 'राम की 'अति' थी। लङ्काकांड के पश्चात् अग्निपरीक्षा हुई उस में सीता उत्तीर्ण हुई थी बस उसके पश्चात् राम को सन्देह नहीं रहना चाहिये था। यदि लोक लाज से ऐसा किया तो 'इसको लोकरञ्जन की अति कहना चाहिये'। कोई कोई महानुभाव राम की इस 'अति' को दूरदर्शिता बतलाते हैं।

इसी प्रकार 'अति'के अनेक दृष्टान्त दिये जासकते हैं कृष्ण के उपदेश का मर्म यह है कि स्वाभाविक कर्म 'सदोष' हैं इसलिये छोड़ना उचित नहीं है। यह बात भी है कि 'धर्म' को सोचते समय उसके अपवादों को भी देख लेना चाहिये। सामान्य धर्म में 'अति' करने वाले पछताते रहते हैं। 'काम' चाहिये पर अति नहीं, 'क्रोध' चाहिये पर अति नहीं, 'सत्य' चाहिये पर अति नहीं सब मर्यादा के भीतर चाहिये। "श्रीकृष्ण जी सब को मध्य बिन्दु पर लाना चाहते थे। देखिये—

अति धून से 'नल' राज्यभ्रष्ट हुआ।
अति धर्म से युधिष्ठिर वन वन डोला।
अति मान से दुर्योधन मारा गया।
अति दान से 'बलि' बांधा गया।
अति मोह से 'धृतराष्ट्र' की दुर्दशा हुई।
अति मद से 'दम्भोद्भव' का मानभङ्ग हुआ।
अति मत्सर से 'कैकेयी' को नीचा देखना पड़ा।
अति क्रोध से 'परशुराम' बरबाद हुए।

अति सत्य से हरिश्चन्द्र को कष्ट हुआ।
अति क्रूरता से हमारे पूर्वज आर्य्य बरबाद हुये॥
अति क्रूरता से यवनों ने नीचा देखा।
अति धर्म वा अधर्म से हिन्दू बरबाद हो रहे हैं॥
अति लोभ से यूरोप के भूत आपस में सिर फोड़ रहे हैं
अति प्रेम से भरत जड़भरत कहलाया या हुआ॥
कहां तक लिखें यह अतिमाहात्म्य बहुत बड़ा है।

श्रीकृष्ण ने स्वयं किसी पर हाथ नहीं उठाया-दो एक बार सुदर्शन चक्र लेकर रथ से उतरे सही, डराया सही, पर किसी को नहीं मारा, सब काम युद्ध के नियमानुकूल करते रहे परन्तु जब दूसरे दल ने कूटनीति का आश्रय लिया तब पाण्डवों की ओर से भी कूटनीति का आश्रय लिया गया। जब गदायुद्ध में दुर्योधन गिर पड़ा तब बलराम हल लेकर भीम पर चढ़ गये कि नियमविरुद्ध जङ्घा पर गदा क्यों मारी, नाभि के नीचे गदा मारना अधर्म है। तब कृष्ण ने अपने भाई को समझाया कि कौरवों ने पहले अमुक अमुक अन्याय किये हैं उसीका बदला है इत्यादि। पीछे से उपस्थित योधाओं के संमुख सब कूटयुद्ध की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली और स्पष्ट कहा कि पाण्डवों का कोई अपराध नहीं है। राजनीति के तत्व को समझना हो तो भीष्म वर्णित राजधर्म पढ़ना चाहिये।

विदुरजी स्पष्ट कहते हैं कि—

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यः।
तस्मिँस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः॥
मायाचारो मायया वर्त्तितव्यः।
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

सारांश राजनीति में Tit for tat 'शठे शाठ्यं' यह तत्व कुटिल मायावी जनों के साथ काम में लाया जाता है श्रीकृष्ण जी गीता में स्वयं कहते हैं कि मेरे साथ जैसा जो कोई बरतेगा उसके साथ मेरा भी वही वर्त्ताव है।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

सारांश श्रीकृष्ण सबको मध्यबिन्दु पर लाना चाहते थे इसी मर्म को न समझ कर लोग उनपर मनमाना आक्षेप करते रहते हैं।

उपसंहार

(१६)

१-कर्म सिद्ध होगा वा नहीं इस सन्देह में न पड़कर, ईश्वर पर विश्वास रखकर 'उसी की इच्छा से मैं कर रहा हूं और पीछे से किया कराया सब उसी के अर्पण करूंगा' इस भावनासे कर्म करते रहना चाहिये। आजतक संसार के किसी भी तत्ववेत्ता ने इस प्रकार का उदात्त सिद्धान्त नहीं बतलाया।

२-कर्मों को सर्वथा तिलाञ्जलि देना असम्भव है। यह बात श्रीकृष्ण ने जगत् के संमुख अत्यन्त प्रभावयुक्त शब्दों में रक्खी है। धर्म व नीति के अनुसार भौतिक सुख भोगना पुण्य है। सदाचारी गृहस्थ उतना ही पुण्यवान् है जितना कि संसार से छुटकारा पाने वाला संन्यासी। "इन्द्रियों को सर्वथा रोकना मृत्यु से भी कठिन काम है और इन्द्रियों को ढीला छोड़ने से देव, ऋषि, मुनि, महात्मा भी रसातल को पहुंचते हैं" इस व्यास वाक्य के अनुसार बतलाया कि युक्त आहार विहार द्वारा उत्साह व उत्थान का आश्रय लेकर कर्म करना चाहिये।

३—प्रवृत्ति-निवृत्ति के दोनों आखिर के सिरे छोड़ कर मध्य-बिन्दु पर आना चाहिये। True Virtue lies in the mean between two extremes.

त्याग का अर्थ यह नहीं कि सर्वथा काम छोड़ बैठो। फल की आकांक्षा छोड़ना यही सच्चा त्याग है। केवल संसार को छोड़कर जंगल में भागजाने का नाम 'संन्यास' नहीं किंतु काम्य कर्मों को छोड़ने का नाम भी संन्यास है। जबरदस्ती इन्द्रियों को पीड़ा पहुंचाने का नाम तप नहीं किंतु नियम पूर्वक गुरु शुश्रुषा करते हुए शारीरिक सत्यभाषणादि वाचिक, तथा प्रसाद, शान्ति आदि मानसिक तप हैं।

४—ईश्वर सुजनों का रक्षक व दुष्टों का संहारक है। ईश्वर-स्वयं 'अव्यक्त' रहता हुआ भी इस प्रकार रक्षक रहता है। यह अव्यक्त सनातन पुरुष का सगुणरूप है। यह सगुणो-पासना बतलाई है।

५—केवल 'भक्ति' से भी ईश्वर साध्य है। वह सबको प्राप्त होसकता है। उसके यहां ऊँच नीच का भेद नहीं। सबको समान ही मोक्ष मिलेगा। यह विशेष तत्व प्रकट किया।

६—शास्त्रों में तत्वज्ञान के विषय में जो मतभेद है वह ऊपरी ऊपरी है। वस्तुतः सब एक है। उन सबका भक्ति मार्ग में मेल डालकर श्रीकृष्ण ने संसार भर को अपना शिष्य बनाया।

७—राजकीय विषय में अपने उदात्त चरितसे निःस्वार्थता का उदात्त पाठ पढ़ाया।

कंस के वध में कृष्ण का क्या स्वार्थ था ?
जरासंध के वध में कृष्ण को क्या मिला ?

शिशुपाल के वध में कृष्ण का कौनसा मतलब अटक रहा था ?

कौरव पाण्डवों के युद्ध में कृष्ण का क्या स्वार्थ था ?

कृष्ण का हेतु था केवल-

धर्मस्थापना और अधर्मनाश।

साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश।

श्रीकृष्ण ने ईश्वर प्रतिपादित मार्ग सब के लिये सुलभ कर रक्खा है। इसीलिये इतने भेदविभेदों में भी समस्त भारतवर्ष समानरूप से श्रीकृष्ण का भक्त है और अनंत काल तक आगे भी भक्त रहेगा।

इति पूर्वप्रसङ्गः।

उत्तर-प्रसंग

अत्र गीता मया सुष्ठु, गिरः सत्या महीपते !
दर्शितं मयि सर्वं च, तेनासौ जितवान् रिपुम् ॥

(गदायुद्धपर्व—कृष्णयुधिष्ठिरसंवाद
६३-६८०)

मैंने अर्जुन को ठीक ठीक उपदेश किया था और विश्व-रूप दिखाया था इसीलिये उसका मोह दूर हुआ, वह युद्ध में डटा और उसने सब शत्रुओं को जीत लिया।

—०—

ॐ तत्सत्

उत्तर प्रसंग

उद्गार-प्रसंग

मोक्ष ।

(१)

भारतीय प्राचीन आर्यों का अन्तिम ध्येय 'मोक्ष' ही रहा है संसार के बन्धनों से छूटकर परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलजाने का नाम मोक्ष है। वेदान्त, सांख्य, योग, इसी मत का प्रतिपादन करते हैं । इसीलिये हमारे पूर्वज वैराग्य के प्राप्त होते ही जंगल का मार्ग पकड़ते थे । यह चाल केवल ब्राह्मणों में ही नहीं किन्तु क्षत्रियों में भी थी। समस्त राज-काज समर्थ पुत्रके सुपुर्द करके प्रजा की अनुमति से वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर वन जाने का दृश्य अत्यन्त करुणापूर्ण होता था। इसीप्रकार सैकड़ों राजे महाराजे अपने समय में करते रहे। ब्राह्मण लोग तो पूर्व से ही संसार से हटे रहते थे। उन का वनदीक्षा लेना और पश्चात् संन्यास लेकर परिव्राजक बनना सुलभ था। विचार हो सकता है कि हमारे पूर्वजों को इस प्रकार संसार छोड़कर वन जाने की क्यों सूझती थी। क्या वन जाने वालों को ही मोक्ष मिलता है? क्या संसार में रह कर शुभ काम करने वालों को मोक्ष नहीं मिल सकता? क्या मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वथा निष्क्रिय होने की आवश्यकता है क्या सब कर्मों को 'इष्ट-मित्र' बन्धु-बान्धवों को छोड़कर वन का मार्ग पकड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती?

महाभारत में इन प्रश्नों पर भली भाँति विचार कियागया गया है। उत्तर कई प्रकारसे आये हैं औरअधिकतर उत्तर यही

है कि संसार से छुटकारा पाकर, वन में जाकर तप किये बिना मोक्ष नहीं होसकता। संसार को दुःखमय ही बतलाया है। केवल कृष्ण ने ही अपनी भगवद्गीता में कर्मसे अलिप्त रहनेकी विधि बतलाई है और वह कर्मफल में आसक्ति छोड़ने की विधि है। यही कर्मयोग है। संसार में रहकर मोक्ष प्राप्त करने का यह भी मार्ग है। पर कृष्ण ने दूसरे योग अर्थात् ध्यानयोग का निषेध नहीं किया है। यह मार्ग भी उन को अभिप्रेत है। शिवजी ने भी ध्यानयोग पर बल दिया है पर कृष्ण के बतलाये हुए मार्ग को भी स्वीकार किया है। शिवजी कहते हैं:—

"विलोक्य सर्वशास्त्राणि, विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं, योगशास्त्रं परं मतम्॥

यहां योगशास्त्र से मतलब उस योगशास्त्र से है जिसमें श्री व्यास ने ध्यानयोग का वर्णन किया है।

महाभारत के शान्तिपर्व में महात्मा "स्यूमरश्मि" ने बड़े ज़ोर से प्रश्न किया है कि "कौन कहता है कि गृहस्थाश्रम में रहकर मोक्ष नहीं होसकता'?

" कस्यैषा वागसत्यमन्या नास्ति मोक्षो गृहादिति" (शान्तिपर्व २६९-१०)

हम यह भी कहते हैं कि हमारे पूर्वज संसार को दुःखमय मानते थे। न्यायदर्शन में भी यह प्रश्न उठाया गया है:—

प्र०—दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः।

यह संसार दुःखमय ही है

उ०—न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः

सर्वथा दुःखमय ही नहीं, बीच बीच में सुख भी आता रहता है।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि हमारे पूर्वज संसारको दुःखमय मानकर वनको जाते रहे तथापि वनमें भी

यज्ञ, तप,आदि शुभकर्म करते ही रहते थे और उनको कर्मफल में दृढ़ विश्वास था। मरने जाने पर भी शेष कर्मफल को यहां भुगतना पड़ेगा यह विश्वास बराबर बना रहता था। संसार दुःखमय है इस से अलिप्त रहो ऐसा सब शास्त्र समझाते चले आये हैं।

"सांख्य" आत्मतत्त्व पर अधिक बल देता है। "योग" ध्यान पर बल देता है। "वेदान्त" संसार को सारहीन समझता है। "न्याय" संसार को सुखदुःख से मिश्रित मानता है। "वैशेषिक" का यही मत है। "मीमाँसा" शास्त्र इसीलिये शुभ कर्मों पर बल देता है जिस से स्वर्ग मिले। "बौद्ध" यही कहते हैं। सारांश 'चार्वाक" (नास्तिकाचार्य) को छोड़कर प्रायः सभी ने संसार को दुःखमय माना है। चार्वाक 'शरीरं ब्रह्म'=इस शरीर को ही ब्रह्म समझता है और कहता है कि कहां का लोक और परलोक, यहीं सब प्रकार के भोग भोगो, परलोक के ढकोसले को छोड़ो इत्यादि। रावबहादुर वैद्य ने अपने 'उपसंहार में प्रवृत्ति के विषय में नवीन ढंगपर अच्छा ऊहापोह किया है—इसलिये पाठकों के मनोरञ्जनार्थ हम कतिपय अंशों को उद्धृत करते हैं। वैद्य महाभाग का उपसंहार मरहटी भाषा में है।—आप कहते हैं:—

"भारतीय आर्य व उन के तत्वज्ञान का झुकाव साधा-"रणतया संसारत्याग की ओर ही रहा है, एक प्रकार से "आश्चर्य की बात है। क्योंकि उन के समय में भौतिक सुख-"साधन खूब थे। जगत् से दुःखी होकर संसार से मुँह मोड़-"ने के लिये कोई कारण नहीं दीख पड़ता था। फिर भी संसार "पर लात मारकर चले जाते थे इस से अनुमान करना पड़ता "है कि उन में वैराग्य की मात्रा वंशपरम्परा से चली आई

"थी भारतीय आर्यों का तत्वज्ञान भी उन के इन विचारों का
"पोपक था। वे ही उन के आनुवंशिक संस्कार आजतक
"भारतीय हृदय पटल पर उठते चले आये हैं। एक तो स्वाभा-
"विक वैराग्यमात्रा, फिर उस समय की राज्यव्यवस्था-इन
"दोनों कारणों से संसार की नश्वरता ने उन के हृदय में और
"भी दृढस्थान कर लिया होगा। जहाँ पचास वर्ष की आयु
"हुई कि हुई वनवास की तैयारी। साधारण गृहस्थ का भी
"यही हाल था। राजाओं के यहाँ तो यह नियम हो गया था
"कि जहाँ बुढ़ापे का प्रवेश हुआ कि वन को प्रयाण करना
"और वहीं मुनि वृत्ति से रहना। ब्राह्मण तो गृहस्थ होते हुए
"भी संसार से प्रायः अलग ही रहते थे, जिस समाज में भिन्न
"भिन्न व्यक्तिएँ परस्पर सम्बन्ध न रहने से अपने समाज के
"कल्याण के विषय में चिन्ता नहीं करते वहाँ समाज में सम-
"ष्टि रूप में जीता जागतापन कायम नहीं रहता। प्रत्येक
"व्यक्ति को अपने सुख दुःख की पड़ी रहती है। समष्टि रूप
"समाज के सुख दुःखों की चिन्ता व्यक्तियों को नहीं रहती।
"राज्यरूपी समाज दीर्घायुवाली संस्था है" इसलिये राज्य-
"प्रबन्ध की कल्पना में चूर रहने के कारण और लक्ष्मी विलास
"के हेतु संसार केवल दुःखमय है यह भावना उस समाज के
"पुरुषों के हृदय में बहुत देर तक रह नहीं सकती। भारतवर्ष
"के राज्य शनैः शनैः एकतन्त्र राजसत्तात्मक हो गये यह हम
"पहले ही दिखा चुके हैं। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र इन को राजकीय
"विषयों में कोई चिन्ता ही नहीं रही इसीलिये सब भार
"क्षत्रियों पर आ पड़ा और वे एकतन्त्र या स्व-तन्त्र हो गये।
"इस का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रिय जीवन की अहंभावना
"ब्राह्मणादियों में नहीं रही, संसार दुःखमय है यह कल्पना

"सामान्य लोगों में और विशेषतः ब्राह्मणों में प्रसरित थी इसी
"का यह परिणाम हुआ होगा। चाहे जैसे हुआ हो परन्तु
"संसार दुःखमय है और पुनर्जन्म के बन्धन से छूट जाने का
"सीधा मार्ग संसारत्याग ही है ऐसी उन की पक्की मनोभा-
"वना हो चुकी थी इस में लेशमात्र सन्देह नहीं। ऐसी पक्की
"भावना न होती तो सहस्रों ब्राह्मण क्यों संसार छोड़कर
"चले जाते? सहस्रों राजा लोग भी लक्ष्मीविलास को छोड़
"कर वनवास क्यों कबूल करते? दृष्टान्त के लिये बुद्ध को ही
"लीजिये। एक दिन शहर में भ्रमण के लिये निकला, मार्ग में
"उस ने रोगी को देखा, कुछ दूर आगे चलकर उस ने एक
"बूढ़े को देखा, कुछ आगे गया कि एक मुरदा सामने आया
"बस इसी से उस को संसार की नश्वरता का ध्यान आया।
"राज-पाट, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सुहृद् बन्धु इन सब को
"छोड़कर चल दिया। संसार दुःखमय है यह भावना पूर्व से
"उस के हृदय में थी। जरासी चिनगारी की आवश्यकता थी
"जिस के मिलते ही वैराग्य की ज्वाला प्रखर हो उठी।

"शान्तिपर्व के मोक्षाध्याय में संसार की नश्वरता का
"अच्छा चित्र खींचा है। वाचकों के मन में जगत् के विषय में
"वैराग्य उत्पन्न कराने का अच्छा प्रयत्न किया है। इस विषय
"में सब तत्त्वज्ञानी एक हैं कि मोक्षसाधन के लिये सब से
"पूर्व वैराग्य की ही आवश्यकता है। योगशास्त्र तो यहाँ तक
"लिखता है कि इन्द्रियों द्वारा विषयों में लिप्त होने का नाम
"ही बन्धन है। उस से छूटने के लिये इन्द्रियों को उधर से
"हटाकर भीतर लगाने का यत्न करना चाहिये, तब मोक्ष
"मिल सकेगा।"

"'सांख्य' मानता है कि सुख दुःख आत्मा का धर्म नहीं है, "वह 'प्रकृति' का धर्म है। इसीलिये उसने प्रकृति-पुरुष के "विवेक पर बल दिया है। यह विवेक ही इस प्रकार से संसार का त्याग है। बौद्ध और जैन लोग तो संसार त्याग पर बहुत बल देते चले आये हैं। इन्होंने इसी उद्देश से "बौद्ध व जैन संघ स्थापन किये व जगह जगह मठ, अखाड़े "बना डाले।

❀ ❀ ❀ ❀

"परन्तु सभी तत्त्वज्ञानी इस प्रकार के भीरु संसारसे डर "कर भागजाने वाले नहीं थे। कुछ ऐसे भी धीर, वीर, बुद्धि-"मान् हुए जिन्होंने "संसार में रहकर भी मोक्ष होसकता है" "इस पक्ष का प्रतिपादन किया। ऐसे लोगों का उत्पन्न होना "आर्यों के इतिहास में आश्चर्यकारक घटना नहीं है। इस "प्रकार के तत्त्वज्ञानियों में श्रीकृष्ण अग्रणी था। उसके कथन "का यह मर्म है कि जिस प्रकार मोक्ष के लिये 'संन्यास' "विश्वास का मार्ग है इसी प्रकार फल की वासना छोड़कर "कर्म करने से भी मोक्ष मिल सकता है। इस निष्काम कर्म की "महिमा केवल भगवद्गीता में नहीं किन्तु समस्त महाभारत "में है। महाभारत व रामायण ये दोनों आर्ष महाकाव्य इसी "उपदेश के लिये अवतीर्ण हुए हैं। संन्यासी व योगी की "भान्ति शुभाचरण करने वाला संसारी जन भी मोक्ष का "अधिकारी हो सकता है, इसी बातपर स्थान-स्थान पर "ज़ोर दिया गया है। किसी भी सांसारिक विपत्ति या प्रमाद से धर्माचरण नहीं छोड़ना चाहिये इसी उदात्त तत्त्व को सि-खाने के लिये ही वाल्मीकि और व्यास का प्रयत्न है। दशरथ "राम, युधिष्ठिर, भीष्म आदि उच्च कर्मयोगियों के जीवन-"चरित्र इसीलिये लिखे गये हैं। "इन्हीं तत्त्वों पर आरूढ़ होने

"से परमपद मिलेगा यही इन चरित्रों का सार है"। महाभारत
"ग्रन्थ का बोझ कितना ही क्यों न बढ़ गया हो-उसमें प्रसङ्ग
"प्रसङ्ग पर नाना विषय और नाना गाथाएँ क्यों न आई हों,—
'एक बात प्रारम्भ से अन्त तक एक रूप में ही मिलेगी। वह
"यह कि परमोक्ष नीतिधर्म का तागा बराबर पिरोया हुआ
मिलेगा। स्थान स्थान पर वाचकों के हृदयपटल पर धर्म
"मार्ग की उदात्त कल्पना को बिठाने का प्रयत्न किया गया है।
"यह धर्म व आचार की कल्पना भारतीय धर्म व सिद्धान्तों
"की कल्पना के मेल से बिठाई गई है यह बात अवश्य माननी
"पड़ेगी।

"पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियों के सदृश भारतीय तत्त्वज्ञानियों
"की बुद्धि, नीति और धर्म में भेद नहीं है यह सत्य है पर
"कहीं कहीं इन आचार समुदायों को धर्म से पृथक् दिखाया
"गया है। पर धर्म शब्द में सब आचारों का समावेश किया
है। धर्मके दो भेद किये हैं एक श्रेष्ठ धर्म व दूसरा उससे
"उतर कर छोटी कोटि का धर्म। वनपर्व में आठ प्रकार का
"धर्म बतलाया है—

—"१-यज्ञ २—वेदाध्यन-३-दान ४-तप (यह एक चौक-
"ड़ी) और ५-सत्य ६-क्षमा ७-दम ८-निर्लोभता (यह
"दूसरी चौकड़ी)

इज्याध्ययनदानानि, तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं, धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥ (वनपर्व)

"इनमें से प्रथम चार 'पितृयाण' नामक मार्ग से लेजाने
"वाले हैं। शेष चार 'देवयान' मार्ग से लेजाते हैं। इसलिये
"सज्जन पुरुष पिछले चारों का अनुष्ठान सर्वेव करते रहते हैं।

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः, पितृयाणपथे स्थितः।
उत्तरो देवयानस्तु, सद्भिराचरितः सदा॥ (वनपर्व)

"इससे स्पष्ट है कि पहले चार 'कर्ममार्ग' में आते हैं।
"दूसरे चार 'नीतिमार्ग' में। यह नीति मार्ग या धर्ममार्ग
"उस कर्ममार्ग से अधिक श्रेष्ठ है। यज्ञ, अध्ययन, दान,
"तप यह भी धर्ममार्ग है पर इनके साथ दूसरी
"चौकड़ी सत्यादि की न हो तो वही निकृष्ट माना जाता है,
"फिर उसपर आरूढ़ होनेवाला पुरुष 'पितृयाण' से चन्द्रलोक
"में या स्वर्गलोक में जाकर फिर संसार में लौट आता है।
"और सत्यादि की चौकड़ी का आश्रय लेने वाला पुरुष 'देव-
"यान' से ब्रह्मलोक को जाता है फिर वहाँ से नहीं लौटता—
"यह व्यास का सिद्धान्त है। सज्जन पुरुष इसी मार्ग पर
"चलते हैं। उद्योग पर्व में भी ऐसा ही स्पष्ट कहा है—

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो, दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो, नामहात्मसु तिष्ठति॥

"यज्ञ, अध्ययन, तप, दान, इन को तो दम्भी पुरुष भी कर
"सकते हैं, पर सत्यादि का अनुष्ठान महात्मा लोग ही कर
"सकते हैं दम्भी पुरुष नहीं। इसी चतुर्विध धर्म को बढ़ाकर
"मनु ने दशविध धर्म में निरूपण किया है। चाहे पुरुष किसी
"वर्ण या आश्रम का हो इन धर्मों का पालन अवश्य करते
"रहना चाहिये, भगवद्गीता में इस विषय में अनुपम विचार
"किया गया है और सज्जनों के गुण बतलाये हैं। इन्हीं सद्-
गुणों का नाम "दैवी सम्पद् है। वे गुण ये हैं—

१–निर्भयता २–चित्तशुद्धि ३–ज्ञानयोग में स्थिरता
४–दान ५–दम ६–यज्ञ ७–स्वाध्याय ८–तप ९–सरलता
१०–अहिंसा ११–सत्य १२–अक्रोध १३–त्याग १४–शान्ति

१५-अपैशुन (चुगली न करना) १६-दया १७-विषयों में लिप्त न होना १८- नम्रता १९- लज्जा २०- चपल न होना २१-तेज २२-क्षमा २३-धृति २४-मानसिक व शारीरिक शुद्धि २५-अद्रोह २६- अभिमान रहित होना।

दुर्गुणों का नाम 'आसुरी सम्पद् है।" वे दुर्गुण ये हैं—

१- दम्भ २- दर्प ३- अभिमान ४- क्रोध ५- कठोरता ६- अज्ञान।

दैवीसम्पद् विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता।

दैवीसम्पद् से मोक्ष और आसुरी सम्पद् से बन्धन होता है। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि सदाचार (नीति धर्म) से भी मोक्ष हो सकता है। यही गीता का स्पष्ट मत है।

धर्माचरण से मोक्ष मिलसकता है।

(२)

वेदान्तज्ञान और योगसाधन से जिस प्रकार की मुक्ति मिलती है, ठीक उसी प्रकार की मुक्ति सांसारिक धर्माचरण (नीति) से भी मिल सकती है ऐसा मान लेने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। कोई कहेंगे कि सांसारिक धर्माचरण वेदान्तज्ञान के सदृश कठिन नहीं है; परन्तु ऐसा कहना सरासर भूल होगी। वन में जाकर योगसाधन करने की अपेक्षा संसार में रहकर धर्माचरण करना कम कठिन नहीं है, किन्तु किसी अंश में अधिक कठिन है। इस प्रकार संसार में रहकर धर्माचरण करनेवाले महानुभाव सब जगह सब समय में अंगुली पर गिनने योग्य ही मिलेंगे। राम, दशरथ, युधिष्ठिर, भीष्म, जनक जैसी व्यक्तियाँ हर स्थान पर हर समय में कहाँ

देखने को मिलेंगी। संसार में सदैव ऐसे कठिन प्रसङ्ग आते हैं जबकि मनुष्य संसार को छोड़कर झट वन जाने के लिये तैयार होजाता है। "क्या इस नश्वर संसार में रहने से कुछ लाभ है"—इत्यादि संदेह में बड़े से बड़े विद्वान् भी पड़ जाते हैं और संसार की दशा को देखकर ऐसे कठोर बनजाते हैं कि सत्य, क्षमा आदिका मार्ग एकदम छोड़ बैठते हैं। बड़े २ पद पर पहुंचे हुए मनुष्य साधारण प्रसङ्ग पर भी धर्म को तिलाञ्जलि देते देखे गये हैं। जब बड़ों की यह दशा तो साधारण पुरुष की कौन कथा ? हमतो यह कहते हैं कि संसार में रहकर लोकसंग्रहार्थ धर्माचरण करने वाले कर्मयोगी का मार्ग; वनमें जाकर ध्यान योग के साधने वाले के मार्ग से कहीं अधिक कठिन है। इस विषय में महाभारतकार ने युधिष्ठिर-द्रौपदी संवाद में सुन्दर ऊहापोह किया है।

द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है "तुम धर्म २ चिल्लारहे हो फिर भी जंगल में पड़े पड़े २ सड़ रहे हो, उधर अधर्मी कौरव हस्तिनापुर में मौज लूट रहे हैं। तुम बलवान् हो, वनमें रहने की प्रतिज्ञा को छोड़कर यदि राज्य के लिये यत्न करोगे तो वह अनायास ही मिल सकता है। जिस धर्म से दुःख उत्पन्न होता है वह धर्म क्योंकर है ? दुर्योधन जैसे दुष्ट को ऐश्वर्य मिले और तुम जैसे धर्मनिष्ठ को वन में सड़ना पड़े इससे तो उस ईश्वर की निर्दयता सिद्ध होती है"—

युधिष्ठिर का उत्तर भी सुवर्णाक्षर में लिखने योग्य है— "सुन्दरि ! मैं जो धर्म का आचरण कर रहा हूं वह धर्माचरण के फल पर दृष्टि डालकर नहीं कर रहा हूं केवल धर्म है इसी लिए धर्म का अनुष्ठान कर रहा हूं। जो पुरुष धर्म का व्यापार करते हैं वे नीच कोटि के लोग हैं।"

मनुष्य की भूल यही है कि जब वह किसी अधार्मिक मनुष्य को अच्छी दशा में देखता है या लाभ में समझता है तब वह धर्म की ओरसे अश्रद्धा करने लगता है। धर्माचरणका फल चाहे न मिले या न देखा जाय पर मिलेगा अवश्य। चाहे देर में मिले। और यह भी स्मरण रहे कि अधर्म का फल भी अवश्य आगे आवेगा। इसलिये धर्माचरण करते हुए उस के फल मिलनेमें विलम्ब होजाय, मार्गमें अनेक विघ्न—बाधायें उपस्थित हो जायँ तो भी धर्म विषयक श्रद्धा व आचरण को ढीला न पड़ने देना चाहिये। बस यही बात धर्माचरणमें कठिन है। जिसने इस मर्म को समझा, उसका बेड़ा पार है। कभी कभी मनुष्य अपने अविवेक या बुद्धिमोह के कारण नीतिपथसे च्युत हो जाता है। बिना किसी झंझट के थोड़े छल कपट से बड़े बड़े लाभ होनेके दृश्य जब बार बार मनुष्यके सामने आते हैं तब वह डगमगा जाता है, तब जब बड़ी बड़ी विपत्तियों के अवसर पर मनुष्य धर्म से गिर जाता है तब आश्चर्य ही क्या है। यही कारण है संसार में धार्मिक पुरुष बहुत थोड़े होते हैं। संन्यासी या योगी को जितने मन निग्रह की आवश्यकता है, उतना ही मन निग्रह संसारी पुरुषका अपेक्षित है। इसी मनो-निग्रह से धार्मिक पुरुष बलवान् हो कर ऊँची गति के योग्य बन जाता है। अजरामर परब्रह्ममें मिल जाने की उसमें योग्यता आजाती है। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो महाभारत का यह सिद्धान्त ठीक ही है कि संन्यासी और योगी के सदृश संसारमें रह कर धर्माचरण करने वाले पुरुष भी मोक्ष पदको प्राप्त कर सकते हैं।

कभी कभी ऐसे मौके आपड़ते हैं कि उस समय धर्म-अधर्म का निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। महाभारत

में ऐसे बहुत प्रसङ्ग आये हैं। उन के विषय में यहाँ थोड़ासा विचार करना असंगत न होगा। इतना कथन पर्याप्त है कि ऐसे विकट मौके संसार में कभी कभी आते हैं और ऐसे समय पर ही विद्वान् से विद्वान् पुरुष भी संशय में पड़ जाते हैं। परन्तु सहस्रों ऐसे अवसर रहते हैं जब कि धर्म–अधर्म स्पष्ट दिखाई देते हैं तो भी मोहसे या स्वार्थसे पुरुष धर्म करना छोड़ देते हैं—अन्याय कर बैठते है। ऐसे अवसरों पर आपेको वश में रखकर धर्म करना चाहिये। दैवी सम्पद् न्यून या अधिक प्रमाण से प्रत्येक के हिस्से में आई रहती है। उसी की वृद्धि करनी चाहिये। वह वृद्धि मनोनिग्रह से ही होगी।

"धर्म करो अधर्म छोड़ो" ऐसा महाभारत में सहस्रों वार कहा है। आदि में भी कहा है "सतत उद्योग करते रहो, धर्म पर श्रद्धा बनी रहने दो"। अन्त में भी कहा है—"कामसे, भयसे, लोभसे, जीविका के लालच से या प्राण बचाने के लिये भी धर्म को मत छोडो। धर्म नित्य है। सुख दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है, संसार अनित्य है"—इत्यादि।

कभी कभी नीति=धर्म, अनीति=अधर्म का निर्णय करना कठिन पड़ जाता है। इस विषय में महाभारतकारने कतिपय अपवाद बतलाये हैं—संक्षेप से यहाँ कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसयेह भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
श्रुतिर्धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते॥

यह धर्म का मर्म हुआ। अब सत्य झूठ कब होजाता है या झूठ कब सत्य होता है इस युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर भीष्म पितामहने शान्ति पर्व अध्याय १०६ में बहुत ही मार्मिक दिया है—उसका सारांश यह है कि लोगों का उत्कर्ष, उनकी धारणा (स्थिति) और उनकी अहिंसा (अनाश) यही धर्म के हेतु हैं। जहाँ ये तीनों बातें नहीं बनती वहाँ धर्म नहीं है। जिस सत्यसे अधर्म होता है वह सत्य धर्म नहीं है।

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः॥
अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथञ्चन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।

यदि चोर अन्याय से या ज़बरदस्ती धन चाहे तो उसको नहीं बतलाना चाहिये। ऐसे को नहीं बतलाना चाहिये कि धन कहाँ है? यदि चुप रहने से काम बनता हो तो चुप रहना चाहिये। यदि बोले विना गुजर नहीं तो ऐसे मौक़े पर बोला हुआ झूठ भी सत्यसे अधिक है। इस एक दृष्टान्तसे यह विषय सुगम हो जाता है परन्तु प्रत्येक दशामें सूक्ष्म विचार करनेके पश्चात् निर्णय करना कठिन हो जाता है। अन्तमें कहा है—

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यः।
तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः॥
मायाचारो मायया वर्त्तितव्यः।
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

जो मनुष्य जैसा बर्ताव हमारे साथ करे उस के साथ वैसाही बर्ताव करना धर्म है। इसमें कोई शुद्धताकी गन्ध देखें-

गे परन्तु जब प्रत्येक मनुष्यको यह ज्ञात रहेगा कि अच्छा बर्ताव करोगे अच्छा वर्ताव मिलेगा और बुरा करोगे बुरा मिलेगा तब वह सावधान होकर अच्छाही वर्ताव करेगा।

राव बहादुर वैद्यने महाभारतके मतको ऐसे अच्छे शब्दोंमें दिखलाया है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। श्रीकृष्णजी भी कहते हैं—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते; तांस्तथैव भजाम्यहम्"

—०—

कोऽयं धर्मः, कुतो धर्मः

शान्तिपर्व २६५ अ०

(३)

युधिष्ठिरने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि 'धर्मके विषयमें तो बहुतसे सन्देह हैं, यह धर्म क्या पदार्थ है कहांसे आया या चला ? धर्मसे यह लोकही सधता है या परलोक या उभय लोक ?

भीष्म पितामह उत्तर देते हैं कि—

सदाचार, स्मृति, और वेद ये तीन धर्मके लक्षण हैं। कोई कोई 'अर्थ' कोभी चौथा लक्षण मानते हैं। विधिहीन किये हुए कर्म ऐसे ही हैं जैसे ऊसर में बोया हुआ बीज। लोकयात्राके लियेही यहां धर्मका नियम किया गया है जिससे इहलोक व परलोकमें सुख होता है। धर्म के मर्मको ठीक ठीक न समझ पानेसे पापी पापमें लगा रहता है। पापके करने वाले विपद् में भी पापसे छुटकारा नहीं पाते। मनुष्य जैसे जैसे धर्मको समझता जाता है वसे वैसे पापकी बातें कम करने लगता है। धर्मकी समाप्ति सदाचार में है और मनुष्यको चाहिये कि उसी

के सहारे से रहे। जब देशमें कोई राजा नहीं रहता तब लुटेरे लोग दूसरोंका धन लूट लेते हैं पर जब दूसरे लोग उनके धन को लूट लेते हैं तब इनको भी राजाकी चाहना होती है और अपनेही धनमें सन्तुष्ट रहने वालों का सा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। पैसे निर्भय पुरुष न्यायकी टटोल में राजद्वार पर पहुंचते हैं अपनी आत्माम कोईभी दुश्चरित नहीं देखते।

सत्यका बोलनाही ठीक है, सत्यसे बढ़कर कुछ नहीं है। सब कुछ सत्य परही स्थित है। सबको सत्यका ही सहारा है भयङ्कर पापी, डाकू आदिभी आपसके वायदोंको सत्य समझ करही आपसमें मेलजोल से रहते हैं। यदि उनमें बनावटी धृति या सचाई हो तो शीघ्रही उनका नाश हो जाता है, धर्मात्मा लोग कहते हैं कि पराए धनको न चुराना चाहिये पर पापी समझते हैं कि यह बात कमजोर मनुष्योंने चलाई है। पर यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि इन्हीं लोगोंको कमजोर दैव अच्छा लगता है। यह देखा गया है कि अत्यन्त बल वाले कभी सुखी नहीं होते इसलिये हे युधिष्ठिर कभी अपनी बुद्धिको कुटिलता में न लगाओ। धर्मात्मा पुरुषको असाधु, दुर्जन, चोर या राजा का तनिक भय नहीं रहता। उसको चाहिये कि शुद्ध व निर्भय रहे। चोरको तो देखो वह सदा अपनेही पापोंसे शङ्कित रहता है। जैसे गांव में घुसा हुआ हरिण चहुं ओरसे डरता रहता है ऐसीही दशा उस चोरकी रहती है, अपने किये हुये पापको ही सब जगह देखता है। इसके विपरीत शुद्ध मनुष्य सदा प्रसन्न व निर्भय रहता है और कहींभी अपने किये हुये बिगाड़को नहीं देखता। देखे तो तब, जब कोई बिगाड़ किया हो।

समस्त प्राणियों के हितचिन्तकों ने 'दान' को धर्म कहा है पर उलटी खोपड़ी के लोग यह समझ बैठे हैं कि यह 'दान'

का ढकोसला दीन, हीन, अनाथों ने चलाया है, जब स्वयं कर्म ज़ोर दैव को अच्छा समझते हैं और अच्छी तरह जानते हैं कि अत्यन्त बलवाले भी दुखी रहते हैं।

जिस प्रकार का व्यवहार हम दूसरों से नहीं चाहते, उसी प्रकार का व्यवहार अन्यों से भी नहीं रखना चाहिये। जैसे हम को बुरा लगता है वैसे औरों को भी बुरा लगता होगा। जैसे हम को खुशी होती है वैसे अन्यों को भी होती होगी, इस प्रकार आत्मा का प्रिय और अप्रिय सोचकर वर्त्तना चाहिये। जो स्वयं ही दूसरों का मालिक बनना चाहता है यदि और कोई उसका मालिक बन बैठे तो शिकायत किस बात की? जब हम को अपना ही बर्त्ताव उलट कर उसी रूप में मिले तो झींकना व्यर्थ है—यह मेरी राय है, जो पुरुष स्वयं जीता रहना चाहता है भला वह दूसरों की जान क्यों लेवे? जैसा अपने लिये चाहते हो वैसा ही दूसरों के लिये चाहो। धन अधिक हो गया हो तो दूसरों को बाँट दो, इसीलिये ब्रह्मा ने कुसीद अर्थात् ब्याज की प्रथा चलाई थी। सदाचारी विद्वान् लोग जिस मार्ग पर स्थिर रहेंगे या चलेंगे लोग भी वैसा ही करेंगे। लोभ के समय में धर्म में बुद्धि रखना अच्छा ही है और समय में तो कहना ही क्या है। जिस से अंतरात्मा की तुष्टि हो वह सब धर्म ही है—इस के विपरीत अधर्म है। यही धर्म अधर्म की पहिचान है। ब्रह्मा ने सज्जनों के आचार अर्थात् सदाचार को ही धर्म बतलाया है। इसलिये हे युधिष्ठिर! कुटिल मार्ग में कभी भी बुद्धि मत लगाना सीधे सीधे रहना और सीधे सीधे काम करते जाना।

कर्म योग—परम्परा

(४)

कृत युग में

नारायण
।
ब्रह्मा
।
सनत्कुमार
।
वीरण (प्रजापति)
।
रैभ्य
।
कुक्षिपाल (रैभ्य का पुत्र)

फिर यह परम्परा लुप्त हुई ।

फिर उद्धार

नारायण ने उपदेश दिया
।
ब्रह्मा
।
बर्हिषद् नामक मुनि लोग
।
सामग ज्येष्ठ
।
राजा अविकम्पन

फिर यह परम्परा लुप्त होगई

त्रेता में फिर उद्धार

नारायण
|
ब्रह्मा
|
दक्ष
|
ज्येष्ठ, दौहित्र आदित्य

फिर यह परम्परा लुप्त हुई

फिर उद्धार

नारायण
|
विवस्वान्
|
मनु
|
इक्ष्वाकु

फिर यह परम्परा नष्ट हुई

इसी प्रकार द्वापर में भी लोप और उद्धार हुआ। अन्त में कलियुग के आरम्भ में कृष्ण जी ने अर्जुन को उपदेश देते हुए फिर उद्धार किया। सतयुग, त्रेता व द्वापर में यही 'कर्म-योग' नारायणीय धर्म, वैष्णवधर्म आदि नाम से प्रसिद्ध रहा। कृष्ण के समय में यही कर्मयोग भागवत धर्म कहलाया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानने वालों को 'नारायण' का बार बार आना आश्चर्यप्रद न होगा। 'यदा यदा हि धर्मस्य', इस वचनानुसार महात्माजन लोक के उद्धारहेतु आया ही करते हैं।

श्रीकृष्ण जी ने गीता अध्याय ४ के आरम्भ में स्वयं कहा है—

इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! इसी योग (कर्मयोग) को मैंने त्रेता में विवस्वान् से कहा, उसने मनु को दिया, मनु ने इक्ष्वाकु को दिया फिर कुछ काल राजर्षि लोग इस योग को जानते रहे फिर काल की महिमा से लुप्त हुआ। तुम हमारे भक्त हो, मित्र हो इसीलिये यह रहस्य हम आज तुमको बतला रहे हैं।

इस बात को सुनकर अर्जुन चकित हुआ और कृष्ण से पूछ बैठा कि—

अपरं भवतो जन्म, परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

ओहो ! आप तो अब इस युग में जन्मे हैं और विवस्वान् हुए त्रेतायुग में भला आपने उनको कैसे उपदेश दिया होगा। मैं कैसे जानूं कि आपने ही आदि में उपदेश दिया ?

इस पर श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

भाई मेरे और तेरे न जाने कितने जन्म होचुके। मैं उन सब जन्मों को जानता हूं तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा, अविनाशी, सब भूतों का स्वामी हूं तो भी अपनी प्रकृति (माया) के सहारे उत्पन्न भी होता हूं।

कब कब और क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोकों में दिया है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधुनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जब जब धर्म की हानि या ग्लानि होती है या अधर्म का उत्थान होता है तभी मैं आता हूं।

क्यों ?

साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना के हेतु आता हूं।

इतने संक्षिप्त विवरण से कर्मयोग परम्परा कैसे चली, बीच बीच में कैसे लुप्त हुई, फिर कैसे कैसे उद्धार हुआ, इन सब आवश्यक बातों का पता चला होगा।

स्वर्ग, नरक और ब्रह्मलोक।

[५]

साधारण हिंदुधर्माभिमानियों का यह विश्वास है कि पुण्य करनेवालों को 'स्वर्ग, पाप करनेवालों को 'नरक' और पाप पुण्य दोनों मिश्रित होने पर 'मनुष्यलोक मिलता है। अतः स्वर्ग या नरक स्थान विशेष या लोक विशेष माने गये हैं जहाँ कि पुण्यात्मा या पापात्मा अपनी कर्मगति के अनुसार जाता है और सुख दुःख भोगता है स्वर्ग या नरक लोक में रहने के पश्चात् फिर इस मर्त्यलोक में लौट आता है।

महाभारत में भी युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्मपितामह बतलाते हैं कि नरक एक स्थान विशेष है। उस की लम्बाई, चौड़ाई, यम के दूतों का वृत्तान्त, उनके दण्ड देने का प्रकार आदि सभी कुछ बतलाया है। स्वर्गलोक भी लोक विशेष माना गया है वहाँ पुण्यात्मा ही जाते हैं और पुण्य कर्मों का फल समाप्त होते ही फिर संसार में लौट आते हैं। निरुक्त के मत से 'सूर्यलोक' ही 'स्वर्ग है। महाभारत के एक आख्यान में बतलाया है कि यह मनुष्य 'कर्मभूमि' है, और स्वर्गलोक 'फलभूमि' है। स्वर्ग में यह एक दोष बतलाया है कि वहां कोई नवीन कर्म नहीं किया जाता। केवल पुण्यों के भुगतान के लिये ही यह भूमि है और पुण्यों के समाप्त होते ही पुनः कर्मभूमि को लौटना पड़ता है। स्वर्ग व नरक इन दोनों से भिन्न एक 'ब्रह्मलोक' माना गया है। साक्षात् योगी या कर्मयोगी उस ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्मलोक में पहुंचने पर फिर लौटना नहीं होता।

ईशोपनिषद् के निम्नलिखित वचन से ज्ञात होता है कि ऐसे बहुत से तमोमय लोक हैं जहां कि आत्मघाती या अन्य पापी पहुंचते हैं। शायद इन्हीं लोकों को 'नरक' मानना अधिक सयुक्तिक होगा। वह प्रमाण यह है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जो आत्माएँ कुछ पुण्य कमाती हैं, वे यहाँ से 'चन्द्रलोक' में जाकर कुछ काल तक सुख भोग कर दुःखों को भोगने के लिये संसार के जन्म-बन्धन में आपड़ते हैं। जो अधिक पुण्य कमाते हैं वे सीधे 'सूर्यलोक' को जाकर, वहां पुण्य को भुगत कर शेष कर्म न रहने से फिर 'कर्मभूमि' में आते हैं। जो

पुरुष योगद्वारा साक्षात् परब्रह्म का दर्शन करलेते हैं उनको ब्रह्मलोक मिलता है। फिर वे कभी इस जन्म-मरण-बन्धन में नहीं आते।

जो पापी पुरुष होते हैं वे तमोमय लोकों में जाकर असंख्य क्लेशों को भुगतते हैं। दूसरों को पाप पुण्य के प्रमाणानुसार मनुष्यों में ऊंच-नीच जन्म मिलता है। यह समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है।

कोई कोई यह कहते हैं कि नरक व स्वर्ग पृथक् पृथक् कोई लोक नहीं है, कल्पना मात्र है, यह पृथिवी ही स्वर्ग और नरक है। इसको स्वर्ग या नरक बनाना अपने ही हाथों में है। मुक्ति या मोक्ष से जीवात्मा अवश्य लौटता है। अल्पज्ञ जीवात्मा के परिमित कर्मों का फल परिमित ही होना चाहिये। यह मत भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मोक्ष के विषय में न्यायशास्त्र कहता है—

"दुःखजन्मदोषप्रवृत्ति मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (१-२)

इसका अभिप्राय यह है कि—

प्रथम पुरुषका अज्ञान या मिथ्याज्ञान दूर हो तब विपरीत प्रवृत्ति रुकतीहै। जब विपरीत प्रवृत्ति नहीं रहती तब दोष कहां? जब दोष नहीं तब जन्म कहाँ? जब जन्म नहीं तब दुःख कहां? जब दुःख नहीं दुःखाभाव है, वही अपवर्ग है, वही मोक्ष है।

सांख्य कहता है—

तदत्यन्त दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः (१-१)

आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक इनतीन प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है अर्थात् मोक्ष है।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः"—
(सांख्य ६—७०)

न्याय ने कहा है—

तदत्यन्तविमुक्तिरपवर्गः

सुख दुःखकी अत्यन्त विमुक्तिही अपवर्ग मोक्ष है। भाष्यकार इस निर्णय के करने में असमर्थ हैं कि मुक्ति से लौटकर आता है या नहीं। वेदान्तता लौटना मानता ही नहीं

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिःशब्दात्'
'यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नच पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

योग भी

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् (३ ५५)

कैवल्य-मुक्तिको मानता है।

इस सब ऊहापोह से स्पष्ट है कि—

(१) स्वर्ग जाने वाली आत्मायें पुण्यों के क्षीण होने पर लौटती हैं।

(२) ब्रह्मलोक को प्राप्त होने वाले नहीं लौटते
श्री शिव अर्थात् रुद्राचार्य्यका यही मत है।
इस प्रकार चार मत हुये—

१-अत्यधिक अशुभ कर्मों की गति— नरक
२-अत्यधिक शुभ कर्मों की गति पितृयाण, स्वर्ग-चन्द्रलोक
३-सर्वथा शुभ कर्मोंकी गति (देवयान) सूर्य्यलोक
४-सब शुभाशुभ कर्मों से अलिप्त रहकर ब्रह्मदर्शन करने वालों को ब्रह्मलोक

और भी विशेष विशेष पुण्यों के लिये विशेष विशेष लोक बतलाये गये हैं। पाप, पुण्य, शुभ, अशुभ से अलिप्त रहने का एक ही मार्ग बतलाया है 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् सब कर्मोंको 'ईश्वरार्पण' किया जाय। उनमें अपमानापन न रक्खा जाय। यह न बन सके तो कर्मफल की वासना छोड़कर कर्म करते रहना चाहिये। इस विषय में पूर्वप्रसङ्ग में बहुत लिख चुके हैं

श्रीकृष्ण ने दो शब्दों में संसार व मोक्ष का मतलब यह समझाया है कि 'मम'=मेरा कहना यही संसार है 'न मम'=मेरा नहीं ऐसा समझना ही मोक्ष है। अग्निहोत्र, यज्ञ, यागादि करने वाले जानते ही हैं कि मन्त्रों द्वारा वायु आदि देवताओं को जो हवियँ दी जाती हैं उन सब के अन्त में इदं न मम (यह मेरा नहीं) ऐसा पद आता है। जैसे—

"इदं वायवे,इदं न मम" यह वायु के लिये है इसमें मेरा कुछ नहीं
"इदं सूर्याय,इदं न मम" यह सूर्यके लिये है यह मेरी नहीं
"इदं मग्नये, इदं न मम" यह अग्निके लिये है यह मेरी नहीं
"इदमिन्द्राय, इदं न मम" यह इन्द्र के लिये है, इसमें मेरा क्या है

इस प्रकार ममत्व बुद्धिको हटाकर काम करना सिखाया गया है। प्रत्येक शुभकर्म की समाप्ति पर पुरोहित आदि कहा करते हैं कि 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' अर्थात् जो कुछ किया है वह श्री कृष्णजी के अर्पण हो। यही ईश्वरार्पण विधि या कृष्णार्पण विधि ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इस बुद्धि से कर्म करते रहने से मनुष्य इसी जन्म में विदेह मुक्त होता है। इसी भौतिक शरीर से इसी जन्म में मोक्षानन्द लेने का यही उपाय है। शान्तिपर्व के मोक्ष पर्व में इस का विस्तृत वर्णन है।

सारांश—

मम=संसार
न मम=मोक्ष

गीता धर्म कैसा है?

—o—

(६)

"गीता धर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है, वह सम है, अर्थात् वर्ण, जाति या किसी अन्य भेदों के झगड़ों में नहीं पड़ता है। किन्तु सब लोगों को एक ही माप तोल से समान सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मों के विषय में सहिष्णुता दिखलाता है, वह ज्ञान कर्म युक्त है, और अधिक क्या कहें वह सनातन वैदिक धर्म का अत्यन्त मधुर अमृत फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्ड प्रधान श्रौतधर्म, गौण माना जाने लगा और उसी समय सांख्य शास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनों का अगम्य था, और इस का झुकाव भी कर्म सन्यास की ओर विशेष रहा करता था। इसीलिये केवल औपनिषद धर्म से अथवा दोनों की स्मार्त एकवाक्यता से भी सर्वसाधारण लोगों का पूरा समाधान होना सम्भव नहीं था। अतएव उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य 'व्यक्त' उपासना के राजा गुह्य का संयोग करके कर्मकाण्ड के प्राचीन परम्परा के अनुसार ही, अर्जुन को निमित्त करके गीताधर्म सब लोगों को मुक्तकण्ठ से यही कहता है कि 'तुम अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोकसंग्रह के लिये निष्काम बुद्धि से, आत्मौपम्य दृष्टि से तथा उत्साह से यावज्जीवन करो जो पिण्ड ब्रह्माण्ड में तथा

समस्त प्राणियों में एकत्व से व्यापा है—इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है. इस से कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीच का विरोध नष्ट हो जाता है; और सब आयु या जीवन ही को यज्ञमय करने के लिये उपदेश देने वाले अकेले गीताधर्म में सकल वैदिकधर्म का सारांश आजाता है। इस नित्य धर्म को पहचान कर, केवल कर्तव्य समझ करके सर्व भूतहित के लिये सैकड़ों महात्मा और कर्त्ता या वीर पुरुष, जब इस पवित्र भरतभूमि को अलङ्कृत किया करते थे, तब यह देश परमेश्वर की कृपाका पात्र बनकर न केवल ज्ञान के वरन् ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुंच गया था और कहना नहीं होगा कि जब से दोनों लोकों का साधक यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है तभी से इस देश की निकृष्टावस्था का आरम्भ हुआ है। इसीलिये ईश्वर से आशा पूर्वक अन्तिम प्रार्थना यही है कि, भक्ति का ब्रह्मज्ञान का कर्तृत्व शक्ति का यथोचित मेल कर देने वाले इस तेजस्वी तथा सम गीता धर्म के अनुसार परमेश्वर का यजन पूजन करने वाले सत्पुरुष इस देश में फिर उत्पन्न हों-"। पृ० ५०७-५०८ उपसंहार के अन्त में लिखे हुये स्व० लो० तिलक के उपर्युक्त शब्दों को उद्धृत कर उसी शुभ आशा के साथ हम भी इस उत्तर सङ्ग्रह को समाप्त करते हैं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

इत्युत्तरप्रसङ्गः

———

श्रीपण्डित ज्ञानदेव का मत
(भगवद्गीता किसे कहते हैं ?)

अब यह गहन कथा सुनिये, जो सकल कथाओं की जन्म भूमि है। और जो विवेक रूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है अथवा यह कथा सब सुखों की नींव है, सिद्धान्त रत्नों का भाण्डार है। अथवा नव रस रूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है। अथवा यह खुला हुआ, परमधाम है। सब विद्याओं की मूलभूमि है और अशेष शास्त्रों का आश्रय है। अथवा सब धर्मों की मातृभूमि सज्जनों का प्रेमास्पद है। सरस्वतीके लावण्य रत्नों का भण्डार है। अथवा सरस्वती स्वयं व्यास महामुनि की बुद्धि में प्रवेश कर तीनों जगतों में इस कथा रूप में प्रगट हुई है। इसलिये यह कथा सब काव्यों में श्रेष्ठ है। अथवा सब ग्रन्थों के महत्त्व की नींव है। इसी से सब रसों को सुरसता प्राप्त हुई है। शब्द लक्ष्मी इसी से शास्त्रवती हुई है। और आत्मज्ञानी की कोमलता, इसी में दुगुनी बढ़ी हुई है। चातुर्य्य ने इसी से चतुराई सीखी है। सिद्धान्त इसी से रुचिर बने हैं, और सुख के सौभाग्य की इसी से वृद्धि हुई है। माधुर्य्य की मधुरता, शृङ्गार की स्वरूपता और योग्य वस्तुकी श्रेष्ठता इसी कथामें उत्तम दिखाई देती है। कलाओं को इसीसे कौशल्य प्राप्त हुआ है। पुण्यका प्रताप इसीसे बढ़ा हुआ है। इसलिये जनमेजय के पाप सहज लीलासे ही नष्ट हो गए। और पल भर सुनिये रंगोंको सुरंगता इसीसे बढी है। तथा गुणोंको सगुणता का अत्यन्त बल इसीसे प्राप्त हुआ है। सूर्य्यके प्रकाशसे उज्ज्वलित त्रिलोक जैसा प्रकाशित दीखता है वैसेही व्यास मुनिकी बुद्धिसे

जगत शोभा दे रहा है। अथवा उत्तमत खेत में बोया हुआ बीज जैसा खूब मनमाना फलता है, वैसे ही सब विषय भारती कथा में सुशोभित होरहे हैं। अथवा नगर में वस्ती करने से मनुष्य जैसा चतुर होता है, वैसे ही व्यास मुनि की वाणी के प्रकाश से सब जगत ज्ञानमय होरहा है। जैसे यौवन के समय, स्त्रियों के शरीर में लावण्य की शोभा विशेष प्रगट होती है अथवा बगीचे में बसंतऋतु आते ही वन शोभा पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक खुल जाती है। अथवा जैसे सोने का पाँसा देखने में साधारण होता है, परन्तु अलंकार बनने पर उसकी उत्तमता का निर्णय होता है। वैसे ही व्यास मुनि के वचनों से अलंकृत होने के कारण, इस कथा को उत्तमता प्राप्त हुई है और यही जानकर इतिहास ने इसे आश्रय दिया है, नहीं २ पूर्ण प्रतिष्ठा के हेतु स्वयं नम्रता का अङ्गीकार कर सब पुराण इस आख्यान रूप से महाभारत में आकर जगत में प्रसिद्ध हुए हैं। "इसलिये जो बात महाभारत में नहीं है, सो तीनों लोकों में नहीं है"। और इसी कारण कहा जाता है कि जगत्रय व्यास का उच्छिष्ट है। ऐसी जगत में जो सुरस कथा है, और परमार्थ की जन्मभूमि है सो वैशंपायन मुनि नृपराज जनमेजय से कहते हैं ऐसी जो उत्तम अद्वितीय पवित्र उपमा रहित और परम कल्याण कारक कथा है सो सुनिये। "श्रीकृष्ण ने अर्जुन के संग जो सम्वाद किया सो गीताख्य विषय भारत रूपी कमल की धूलि है अथवा "वेद रूपी समुद्र का मथन करके व्यास की बुद्धि ने यह अपार नवनीत निकाला है" और फिर ज्ञानरूपी अग्नि की विचार रूपी ज्वाला में तपाने से वह परिपक्व होकर, घृत की सुगन्ध को प्राप्त हुआ है। विरक्तों को जिसकी इच्छा करनी चाहिये, सन्तों को जिसका सदा अनुभव लेना चाहिये, पहुँचे हुये

पुरुषों को सोहंभाव से जहाँ प्रविष्ट होना चाहिये, भक्तों को जिसका श्रवण करना चाहिये, और तीनों जगतों में परम पूज्य है, सो यह कथा "भीष्म पर्व" में कही है " इसे भगवद्गीता कहते हैं"

"(ज्ञानेश्वरी पृ. ३. ५.)"

गीता कैसा शास्त्र है ?

यह गीता ज्ञानामृत से भरीहुई गंगा है, विवेक रूपी क्षीर समुद्र की "नव लक्ष्मी है"। अतएव यह अपने पदों से, वर्णों से, अर्थ से जीव, प्राणों से मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु होना जानती ही नहीं। क्षर और अक्षर पुरुषों का उसके सन्मुख जाते ही पुरुषत्व नष्ट होगया है। और फिर उसने अपना सर्वस्व मुक्त पुरुषोत्तम को समर्पित कर दिया है। इसलिये जगत में यह गीता जो तुमने अभी प्रस्तुत सुनी है, सो मुझ आत्मा के कारण ही पतिव्रता कहलाती है सचमुच में यह शास्त्र शब्दों से कहने योग्य नहीं है। "यह संसार का पराभव करने हारा शास्त्र हैं"।

(ज्ञा०—५.२६ पृ०)

श्री व्यासजी का संसार पर उपकार ।

अथवा "श्रीकृष्ण" ने गीता के मिष से ऐसे श्लोक रूपी सूर्य प्रकाशित किये हैं, जो अविद्या का नाश करने में अन्धकार का नाश करने हारे सूर्य्य को, प्रतिज्ञा से जीतते हैं। अथवा संसार मार्ग में थके हुए पथिकों की विश्रान्ति के लिये गीता मानों "श्लोकाक्षर रूपी द्राक्षलता से युक्त एक मन्डप बनाया गया है। अथवा यह गीता "श्रीकृष्ण नामक" सरोवर में फैली हुई है। जिसके श्लोकरूपी कमलों की सुगंध

भाग्यवान संतरूपी भ्रमर सेवन करते हैं। अथवा ये श्लोक नहीं, बड़े बड़े भाटों के समान गीता की महिमा वर्णन करने हारे कोई हैं। अथवा मानो स्व शास्त्र गीता रूपी नगर में इन श्लोकों की सुन्दर वाड़ी बनाकर उसमें बसने के लिये आये हैं। अथवा ये श्लोक नहीं? ये गीता ने निज पति आत्मा को प्रेम से आलिंगन देने के लिये, अपनी बाहें पसारी हैं। अथवा ये मानो गीतारूपी कमल भृंग है वा गीता समुद्र की लहरें हैं, वा श्री हरि के गीता रूपी रथ के घोड़े हैं। अथवा मानो अर्जुन रूपी सिंहस्थ प्राप्त हुआ है। इसलिये श्लोक रूपी सब तीर्थ समुदाय श्री० गीता रूपी गंगा के समीप प्राप्त हुए हैं। अथवा ये श्लोक माला नहीं, "चिन्ता रहित पुरुषों के चित्त के लिये एक चिंतामणि है। किंवा निर्विकल्पों के लिये, मानो कल्प वृक्ष ही लगाये गये हैं"। इस प्रकार से सात सौ श्लोक हैं, तथा एक से एक बढ़कर हैं। अतः किसका विशेष वर्णन किया जाय? कामधेनु की ओर दृष्टि दें, जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह बढ़िया और यह दुर्बल, दीपक अगला वा पिछला, सूर्य छोटा या बड़ा, अमृत का समुद्र गहरा वा उथला कैसा कहा जा सकता है? वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यह प्रथम और ये अन्तिम यह नहीं कहा जा सकता, पारिजातक का फूल क्या नया पुराना कहा जा सकता है? और श्लोक अनुपम है, इस बात का समर्थन ही क्या करना है। यहां वाच्य और वाचक ये भेद भी नहीं है। "कारण इस शास्त्र में एक "श्रीकृष्ण" ही वाच्य और वाचक है"। इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है। इसमें जो लाभ अर्थ से वही पाठ से होता है। अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता है।

इसलिये मुझे समर्थन करनेके लिये कोई बात नहीं बची। "यह गीता श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति है" जानो ?

देखिये ! श्रीकृष्ण ने कैसे अर्जुन को निमित्त बना कर सब जगत् पर दया कर यह महानन्द सुलभ रूप से प्रगट किया है। जैसे कलावान चन्द्रमा चकोर के निमित्त से तीनों संतप्त भुवनों को शांति पहुंचाता है. अथवा शंकर ने गौतम के मिष से कलिरूपी काल ज्वर से पीड़ित लोगों के हेतु गङ्गा का प्रवाह बहाया है, वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गौ ने पार्थ को वत्स बना यह गीतारूपी दूध सम्पूर्ण जगत के लिये दे रक्खा है। इस में यदि जीव भाव से नहाओगे तो तद्रूप ही हो जाओगे। अथवा यदि पाठ के मिष से इस से जिह्वा मिलाओगे तो भी जैसे लोहे का एक अंश भी पारस का स्पर्श करे तो अन्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है। वैसे ही पाठरूपी कोठरी में रख श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं जाता, त्यों ही शरीर में ब्रह्मत्त्व की पुष्टि भर जावेगी अथवा यदि इसकी ओर टेढ़ा मुंह कर करवट ले रहोगे और ये श्लोक यदि कान में जा पड़े तथापि वही फल होगा। कारण जैसा कोई श्रीमान् दाता, किसी को ना नहीं कहता वैसे ही गीता भी श्रवण करने से पाठ करने से वा अर्थ करने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती। इसलिये ज्ञानप्राप्ति के लिये, एक गीता की ही सेवा करो। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे ? और "श्रीकृष्ण" और अर्जुन का जो श्रोकाश सम्वाद हुआ वह "श्रीव्यास" ने हथेली में लेने योग्य सुलभ कर दिया है। (पृ० ७२१-७२४)

महाभारत सारोद्धार।

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनि स्तस्य शाखा।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥

दुर्योधन रूपी मन्युमय (क्रोधमय) महावृक्ष है, कर्ण महारथी उसका स्कन्ध (तना) है, शकुनि आदि उसकी शाखायें हैं, दुःशासनादि उसके खिले फूल या फल हैं, और इस महा वृक्ष की जड़ हैं बेसमझ राजा धृतराष्ट्र।

राजा धृतराष्ट्र ही जड़ था क्योंकि पुत्र मोह को न रोक सका। इसी से दुर्योधन अपने हठमें बढ़ता गया। यदि विदुर के वचन से धृतराष्ट्र इस दुर्योधन को बाल्यावस्था में ही छोड़ देता तो भीम को विष देना, लाख के घर में पांडवों के जलाने की चेष्टा करना, द्रौपदी के केशों का खींचना व उसको सभा में घसीटते हुए लाना इत्यादि के कारण कुलक्षय न हुआ होता-

इस से यह सूचित होता है कि—

दृढ़ अज्ञानरूपी जड़ वाला एक महादैन्य वृक्ष है अधर्म उसका अंकुर है जिस से की यह महावृक्ष उपजा है, क्रोध लोभ रूप इसका स्कन्ध (तना) है, हिंसादि इसकी शाखायें हैं, वध, बन्ध, नरक आदि इसके फल फूल हैं-जो पुरुषार्थ को चाहते हैं-त्रिविध दुःखों से पार होना चाहते हैं-मोक्ष के अभिलाषी हैं। उनको उचित है कि इसकी अज्ञानरूपी जड़ को काट कर इस महावृक्ष का नाश कर डालें—इस प्रकार आसुरी सम्पद् को त्याज्य बतला कर दैवी सम्पद् को स्वीकार करने को प्रेरणा करते हुए भगवान व्यास निम्न लिखित श्लोक को पढ़ते हैं—

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो, ब्रह्म च, ब्राह्मणाश्च ॥

युधिष्ठिर रूपी महा धर्म वृक्ष है, अर्जुन इस का स्कन्ध है, भीम सेनादि इस की शाखायें हैं, नकुल सहदेव आदि इस के फल फूल हैं और इस धर्म मय महावृक्ष की जड़ हैं कृष्ण, वेद और ब्राह्मण ।

तात्पर्य यह है कि—

धर्म शब्द से यहाँ आशय है पुण्य से और पुण्य के कारण हैं शम दम सत्य आदि, उनका ग्रहण करना चाहिये । युधिष्ठिर अर्जुन भीम नकुल सहदेव आदि इस वृक्ष के स्कन्धादि तुल्य हैं, इस पुण्य वृक्ष की जड़ हैं भगवान् कृष्ण, क्योंकि उन्हीं के यथार्थ ज्ञान से यह महावृक्ष टिक रहा है नहीं तो कामादि आकर इस की जड़ का खोखला कर डालें भगवज्ज्ञान की जड़ हैं वेद, क्योंकि वेदों से ही मनुष्य को कर्तव्या कर्तव्य का बोध हो जाता है जिस से कि अकर्तव्य से हटकर कर्तव्य की ओर झुकता है, वेदों से यज्ञों का प्रकाश होता है । मनु के शब्दों में कहना हो तो यह कह सकते हैं कि संसार में जो कुछ था जो कुछ है, जो कुछ भी होगा उन सब का ज्ञान वेदों से ही होगा (भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति),—वैशेषिक कार के शब्दों में यह कह सकते हैं कि—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्—

वेदों में ईश्वरीय ज्ञान है, वेदों में धर्म का स्वरूप कहा है इसीलिये उस का प्रामाण्य है-उस को मानना चाहिये—

इस ब्रह्म को अर्थात् वेदों की जड़ हैं ब्राह्मण, क्योंकि ब्राह्मण ही गुरु शिष्य परम्परा से वेद परम्परा को जीवित रखते चले आये हैं वेदों के पढ़ाने का अधिकार ब्राह्मणों को ही है धर्मोपदेष्टा ये ही हैं

इस से यह बात आई कि—

वेद और ब्राह्मणों का भक्त पुरुष जब भगवान् के आराधन के लिये योगादि लक्षणरूप धर्मवृक्ष खड़ा करता है तब अहिंसा सत्य आदि इस वृक्ष के स्कन्धरूप हो जाते हैं धारण ध्यान आदि इस की शाखायें फूट निकलती हैं साक्षात् तत्व-प्रकाश इस के फल हैं मोक्षाभिलाषी पुरुष को उचित हैं कि भगवदा-र धन के बल से इसको प्राप्त करे—

बस सम्पूर्ण महाभारत रूप विस्तृत ग्रन्थ इन दो श्लोकों पर रचा गया है—वैसे तो इस महाग्रन्थ भर में दो सहस्र छोटे मोटे पर्व हैं पर मुख्य पर्व हैं अठारह ही—(१) आदिपर्व (२ सभापर्व (३) वनपर्व (४) विराट्पर्व (५) उद्योगपर्व (६) भीष्मपर्व (७) द्रोणपर्व (८) कर्णपर्व (९) शाल्यपर्व (१०) सौप्तिकपर्व (११) स्त्रीपर्व (१२) शांतिपर्व (१३) अश्वमेधपर्व (१४) अनुशासनपर्व (१५) आश्रम वासिकपर्व (१६) मौसलपर्व (१७) महाप्रस्थान पर्व (१८) स्वर्गा-रोहण पर्व—

इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र के वंश वर्णन के व्याज से भगवान् व्यास ने समस्त धर्म तत्व आख्यानोपाख्यान से महाभारत में वर्णन किया है—

आदि पर्व [१]

इसमें देवासुरों का पूर्ववृत्त वर्णन करके यह बतलाया है कि देवों व असुरों का युद्ध अनन्त परम्परा से चला आता है। कोई युग इन युद्धों से बचा नहीं। इसी परम्परा से जब असुरों ने कलियुग में मनुष्यों में जन्म लिया और उपद्रव मचाना प्रारम्भ किया तब देवों की भी एक वृहत् सभा हुई जिस में

उन्हीं ने भी इस लोक में जन्म लेकर असुरों के साथ युद्ध करके उन के पराजय द्वारा भूलोक के उद्धार करने का निश्चय किया असुरों ने कौरवों में और उन के पक्ष पातियों के रूप में जन्म लिया और देवों ने पांडवों और उन के पक्षपातियों के रूप में, और श्रीकृष्ण ने अपने वचनानुसार यदुकुल में जन्म लिया और यहीं से इस कथा का सूत्रपात है धृतराष्ट्र पाण्डु व विदुर व्यास की नियोगज सन्तान है यह पृथक् दिये हुए वंशवृक्ष से ज्ञात हो जायगा–धृतराष्ट्र अन्धा था इसलिये राज्य का अधिकारी नहीं था, विदुर दासीपुत्र था अतः वह भी राज्य का वारिस न हो सकता था। शेष पाण्डु का ही अधिकार था। इस तरह पाण्डु राज्य करने लगा पर हर प्रकार से बड़े भाई धृतराष्ट्र का ध्यान रखता था। मान मर्यादा ऐसी रखता था मानो धृतराष्ट्र ही राजा और वह सेवक है। पाण्डु एक दिन शिकार को गया, वहां शिकार में एक मुनि को मार बैठा मुनि उस समय मैथुन में प्रवृत्त थे, मुनि ने शाप दिया कि जैसे मैं मैथुन के समय मरा हूं इसी तरह स्त्री से भोग करते समय तू मर जायगा। पाण्डु को वैराग्य हुआ, सब राजपाट का काज छोड़ कर बन में घूमने लगा। पर्वतों में रहने लगा। इधर सब काम धृतराष्ट्र पर आ पड़ा। पाण्डु के मरने के पश्चात् धृतराष्ट्र तो सोलह आने स्वामी हुआ। पाण्डु की दो स्त्रियें थीं बड़ी कुन्ती व छोटी माद्री–कुन्ती कृष्ण की मावसी लगती थी और माद्री मद्रदेश के राजा शल्य की बहन थी। कुन्ती जब कुमारी ही थी तब सूर्य से कर्ण नामक पुत्र हुआ था जिस को इसने लज्जा के मारे पिटारी में डालकर नदी में बहा दिया था जो कि एक बढ़ई के हाथ लगा। उसी ने उस को पाला पोसा, बड़ा किया बढ़ई की स्त्री का नाम राधा था उसने मातृवत् रक्षा की इस

लिये कर्ण उसी का पुत्र कहलाया और राधेय (राधा का लड़का) नाम से बोला जाने लगा। बढ़ई के घर रहने से उसी का समझ कर लोग "आधिरथि" भी कहते थे। जब पाण्डु ने मृत्यु के भय से स्त्रियों के पास जाना छोड़ दिया तब भविष्य में निःसन्तान रहने की आशंका हुई तब अपने पति की अनुमति लेकर कुन्ती ने नियोग से युधिष्ठिर, भीम, व अर्जुन तीन पुत्रों को उत्पन्न किया, और उसी के आग्रह करने पर माद्री ने भी इसी प्रथा से नकुल व सहदेव उत्पन्न किये। उधर वन में ये उत्पन्न हुए और इधर धृतराष्ट्र के घर गांधारी से दुर्योधनादि सौ पुत्र हुए। युयुत्सु नामक एक और पुत्र वैश्या से हुआ। पाण्डु के मरते ही धृतराष्ट्र के ऊपर राज्य भार किस तरह आ पड़ा यह हम पहले कह चुके हैं। राज्य करते करते उस के मन में राज्य लोभ उत्पन्न होने लगा, तो भी ऊपर से इस बात को छिपाता रहा। जब पाण्डव पांच पांच छः छः वर्ष के हुए तब लोकलाज से उन को लिवा लाया और तबसे युधिष्ठिरादि व दुर्योधनादि साथ रहने लगे एक ही गुरुकुल में द्रोण कृप जैसे सर्व-विद्या-विशारद गुरुओं से शिक्षा पाने लगे। इसी गुरुकुल में कर्ण भरती हुआ और इसकी व दुर्योधन की खूब घुटती थी। दुर्योधन की भीम की नहीं बनती थी। इसी गुरुकुल से ही दुर्योधनादि का पाण्डवों के साथ डाह बढ़ता गया। जब परीक्षा का दिन आया तब रङ्ग भूमि में यह डाह स्पष्ट रूप में प्रगट हुआ-अर्जुन व कर्ण की नोंक झोंक इसी में हुई-यहां से वैर आगे बढ़ता गया। इधर जब ये पूर्णावस्था प्राप्त हुए तब यौवराज्य का प्रश्न छिड़ा, यौवराज्य पद पर युधिष्ठिर आगये पर धृतराष्ट्र यह बात मन से नहीं चाहता था। दुर्योधन ने तो पाण्डवों को यहां से हटाने व सर्वथा नष्ट करने का पूर्ण उद्योग किया। तब विदुर भीष्म द्रोण

आदि पाण्डवों के पक्ष के थे। बुद्धिमान धृतराष्ट्र ने झगड़ा टालने के लिये पाण्डवों को आधा राज्य देकर इन्द्र प्रस्थ को भेज दिया—। हस्तिनापुर में पहुंचतेही युधिष्टिर ने बड़ी युक्ति से राज्य करना प्रारम्भ किया। सब काम ठीक ठाक धर्मानुसार होने लगे। इधर पाण्डवों के चले जाने पर दुर्योधन ने समझा बला कटी, धृतराष्ट्र ने समझा काम बनगया, भीष्म, द्रोण, विदुर आदि ने समझा कि झगड़ा बढ़ने से बचा चलो अच्छा हुआ, कर्ण ने समझा चलो मौज बन आई—इस तरह इधर कौरव व उधर पाण्डव रहने लगे—

सभा पर्व (२)

धर्म परायण युधिष्टिर की महिमा चहुं ओर फैलने लगी, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, पृथ्वी भर फिर कर दिग्विजय करके सब राजाओं को राजसूययज्ञ के लिये निमन्त्रण दे आये. सुतरां कौरवों के पास भी निमन्त्रण पहुंचा-पृथ्वीभर के राजे नाना प्रकार की भेटों सहित यज्ञ में पधारे। मय ने यज्ञ के लिये एक अनुपम सभा का निर्माण किया जिसकी कारीगरी को देखकर संसार चकित हुआ। राजे अवाक् रह गये। जिसके देखने के लिये ऋषि, मुनि, देवता और ब्राह्मणों के झुंड के झुंड पहुंचे भीष्म, द्रोण, कृप भी जा विराजे। दुर्योधन भी भ्रातृ-मण्डल सहित जा विराजा। काम प्रारम्भ होने लगा, भेंटों पर भेंटे चढ़ने लगीं। प्रश्न यह उठा कि आगे किसको बिठाया जाय। युधिष्टिर ने भीष्म पितामह से पूछा उन्होंने कृष्ण की स्तुति की और कहा कि साक्षात् भगवान् बैठे हैं, इन्हीं को अग्रमान मिलना चाहिये। इसी बात पर शिशुपाल आदि बिगड़ उठे और कहने लगे कि हम लोगों के होते हुए श्रीकृष्ण को अग्रमान कैसे मिल सकता है, यह होने

को था सो झगड़ा खड़ा होगया। शिशुपाल फ़रीरों ने युद्ध का बिगुल बोल दिया, चलो सोटाशाही, होने लगी मार धाड़ युधिष्ठिर घबराया कि यह क्या विघ्न हुआ। कृष्ण ने शिशुपाल का वध किया और जब विपक्षी सब गाजे ठण्ढे हो गये तब यज्ञ का काम प्रारम्भ हुआ और धूम धाम से हुआ। यज्ञ समाप्ति पर सब राजाओं को विदा किया गया और दुर्योधनादि भी युधिष्ठिरादि के परम ऐश्वर्य को देखकर बड़े दुखी हुए। उधर शिशुपाल के पक्षवाले भी नाराज़ गये "यहीं पर भावी बड़े युद्ध की नींव पड़ गई"—दुर्योधन रातदिन यही सोचने लगा कि किस तरह पाण्डवों का ऐश्वर्य नष्ट होगा। यज्ञ के दिनों में द्रौपदी व भीम के किये हुये कतिपय उपहास भी उसके मनमें चुभ रहे थे। इसप्रकार दुखी होकर युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर वह हस्तिनापुर लौटा। लौट आने पर उसकी वृत्ति और दिन चर्य्या एक दम पटल गई। उसको खाना, पीना, पहरना, आमोद प्रमोद अच्छे नहीं लगते थे, सर्वदा उदासीन रहने लगा। यह दशा देखकर उसके मामा शकुनि से न रहागया और उससे इस उदासीनता का कारण पूछ ही डाला—उसने सब वृत्तान्त सुनाया और कहा यदि पांडवों का नाश न होगा तो मैं आत्मघात करके मर जाऊंगा। मामाने आश्वासन दिलाया कि यह तो कोई बड़ी बात नहीं। द्यूतविद्या में मुझ जैसा निपुण कोई नहीं है, किसी तरह युधिष्ठिर को द्यूत के लिये आह्वान करो, फिर बातों बातों में उन का सर्वस्व छीन लेंगे और उनको वन को भेज देंगे, ज़रा अपने पिता से अनुमति ले लो दुर्योधन को पाण्डवों के नाश का यह उपाय अच्छा जान पड़ा और पहुंचा सीधे बूढ़े धृतराष्ट्र के पास। जब उसने धृतराष्ट्र को सब हाल सुनाया तब वह (यद्यपि दुर्योधन की उन्नति चाहता था तथापि लोकनिन्दा से डरता था

अपना हार्दिक अभिप्राय प्रगट करना नहीं चाहता था) दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करने लगा कि युधिष्ठिर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, वह अपने राज्य में सुखी है, तुम अपने राज्य में सुखी रहो, वृथा पाप का बीज मत बोओ. पर हठी दुर्योधन कब मानता--अतः धृतराष्ट्र ने दबे दबे शब्दों में अनुमति देही डाली विदुर आदियों ने बहुत कहा कि यह अनर्थ मत करो पर धृतराष्ट्र ने कहा मौज के लिये द्यूत क्रीड़ा करेंगे कोई घबराने की बात नहीं। युधिष्ठिर को अह्वान भेजा गया। युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे ललकारेगा उससे मैं कभी नहीं हटूंगा, सब भाई आये--अन्तमें शकुनि की चाल के सामने सीधे सीधे भाइयों का कुछ वश नहीं गया और सब हार गये-राज्य गया, पाट गया, द्रौपदी भी गई दुःशासनादि ने सभामें द्रौपदी की जो दुर्दशा की वह जग-विदित है। बस "यहीं से पाण्डवों व कौरवों के वैर की पक्की गाँठ बन्धी।" धृतराष्ट्र भीतर भीतर बहुत प्रसन्न हुआ, विदुर ने खूब धमकाया और कहा कि यह नाश का बीज क्यों बो रहे हो--अन्तमें धृतराष्ट्र को कुछ होश आया, और इधर द्रौपदी ने भी ऐसे विचित्र प्रश्न किये कि जिसका उत्तर किसी से न बन पड़ा। खैर धृतराष्ट्रने द्रौपदी को वर दिये जिससे उसके पति भी छूटे, वह भी छूटी और सामान वापस मिला, फिर यह सब इन्द्रप्रस्थ लौट आयें। दुर्योधन को कहां चैन पड़ता, उसने समझा कि अन्धे पिता ने सारा किया कराया चौपट कर डाला फिर क्या था फिर द्यूत की चर्चा चली, फिर धृतराष्ट्र दुर्योधन की बातों में आया फिर द्यूत क्रीड़ा का निमन्त्रण भेजा गया, फिर पाण्डव आये; और शकुनि की चाल से फिर सर्वस्व

हारगये-द्रौपदीने फिर सबको छुड़ाया और अब की बार सीधे बारह साल का वनवास एक साल का अज्ञात वास भुगतने के लिये चल दिये। शर्त यह थी कि यदि अज्ञातवास के दिनों में कहीं इनका पता चल गया तो फिर तेरह वर्ष के लिये जाना होगा कोई कहते हैं द्यूत एक ही बार हुआ पर महाभारत के अनुद्यूत पर्व से विदित होता है कि दो बार हुआ-यह भी कहा जाता है कि फिर धृतराष्ट्र ने इनको लौटाना चाहा :परन्तु सत्य प्रतिज्ञ युधिष्ठिर ने स्वीकार नहीं किया। श्रीकृष्ण उस समय किसी दूसरे झंझट में लग रहे थे उनको इस बात का पता पीछे से लगा जिससे उनको बहुत दु:ख हुआ। यदि श्रीकृष्ण को पहिले से खबर होती तो वे युधिष्ठिर को अनर्थ से बचाते दुर्योधन का आनन्द त्रिभुवन में न समाया-इधर पाण्डवों ने मन में विशेष विशेष प्रतिज्ञायें करके वन का रास्ता संभाला—दुर्योधन ने समझा कि चलो तेरह वर्ष के लिये बवाल कटा, देखें तब तक क्या होता है, कौन जीता है, कौन मरता है, कौन लौटता है, कौन राज्य करता है—बस हागया सारे इन्द्रप्रस्थ का ऐश्वर्य दुर्योधन के हाथ लगा।

वन पर्व [३]

वनवास की दशा में पाण्डवों ने जो घोर तप किया। माद्री तो सती होकर पाण्डु के साथ पहिले ही मर चुकी थी उस के भाग्य अच्छे थे कि वह अपने पुत्रों की इस कष्टमय दशा को देखने के लिये जीवित नहीं थी-कुंती के दुःख का पारावार नहीं था, वह विदुर के पास ही रही। पाण्डवों ने ईश्वर के विश्वास पर धर्म के सहारे दिन काटने प्रारम्भ कर दिये.अर्जुन ने सब देवताओं को तपद्वारा सन्तुष्ट कर नाना

प्रकार के शस्त्रास्त्र सम्पादन किये पचासों वर पाये । युधिष्ठिर ने इधर अपने भाइयों के साथ भारत भर के तीर्थ घूम डाले, ऋषि मुनियों के स्थान देख डाले । बीच में कभी कभी कृष्ण भी मिल आते थे, व्यास भगवान भी कभी कृपा कर आते थे एक बार दुर्योधन दल बल सहित पाण्डवोंकी दुर्दशा देखने गया पर उलटा गन्धर्वों से अपनी ही दुर्दशा कराली । तब यदि युधिष्ठिर न छुड़ाते तो दुर्योधन का इतिहास वहीं मिट जाता-पर युधिष्ठिर का धर्मभाव उसको व कौरवों को बचा गया । बनवास में रहते हुए उन्हों ने तपस्विजनों की खूब सेवा रक्षा की, दुष्टों का खूब संहार किया । इधर इनकी तीर्थ यात्रा समाप्त हुई और उधर अर्जुन तप समाप्त कर लौट आया बारह वर्ष समाप्त हुए, अब तो अब अज्ञातवास की चिन्ता थी अपने पुरोहित धौम्य की सलाह से नानारूप धारण कर सब पाण्डव विराट् नगरी में पहुंचे ।

विराट् पर्व [४]

यहां आने के पूर्व सबने अपने रूप वेश बदल दिये । युधिष्ठिर कङ्क नामक द्विज बनकर राजा को द्यूत आदि से रिझाता रहा । भीम वल्लभ नामक रसोइया बनकर पाकशाला का मुख्य बना, जहां वह खूब उत्तम उत्तम पदार्थ बनाकर सब को खिलाता व स्वयं खाता था । कभी कभी अखाड़े में कुस्ती खेलकर व बाहर के पहलवानों को चित कर के राजा को प्रसन्न करता रहा । अर्जुन बृहन्नला नामक नर्तकी बन कर विराट् की लड़की उत्तरा को गायन वादन व नर्तन सिखाने लगा । नकुल तबेले का मालिक बना । सहदेव ने गौशाला संभाली । द्रौपदी ने दासी का रूप धारण कर रानी की सेवा का भार अपने ऊपर लिया । इनके ऊपर के नाम और वे पर

इन्होंने आपस में संकेत के लिये जय विजयादि नाम रखलिये थे-यहाँ इनको एक वर्ष तक कोई न पहिचान सका। दो एक बार ऐसी घटनायें हुईं कि मामला फूट जाता पर युधिष्ठिर की बुद्धिमत्ता से सब काम ठीक ठीक होता गया-कौरव बड़े अचम्भे में पड़गये कि पाण्डव कहां गये, उनके गुप्तचरों ने पृथ्वी का कोई स्थान ढूंढ़ने से बाकी नहीं छोड़ा, सब तीर्थ देख डाले, जङ्गल छान डाले-पर पाण्डव गये कहां पता न चला, दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन इस चौकड़ी को कब चैन पड़ता, पर लाचार थे, उन को चिन्ता लग रही थी कि कहीं अज्ञातवास कामयाब हुआ तो फिर पाण्डवों को राज्य देना ही पड़ेगा-

जब सब उपाय किये पता न चला तब उन्होंने सोचा कि चलो कहीं धावा ही बोलें- खाली पड़े पड़े क्या करें- विराट राज्य गोधन के लिये मशहूर था। त्रिगर्त राज्य वालों की व विराट् राज्यवालों की पहिले से कुछ खट पट चली आती थी—इसलिये चौकड़ी में यही प्रस्ताव पास हुआ। फिर क्या देर थी, तैयारी हुई। भीष्म, द्रोण, कृप पहले मना करते रहे पर फिर चलने को राजी हुए। इधर इनके धावा बोलने का दिन व उधर पांडवों के वनवास की समाप्ति का दिन साथ ही पड़ा था - इसलिये उधर से वे जुटे। आखिर नर्तकी रूप में अर्जुन को भीष्म आदि ने पहचान लिया। भीष्म ने दिन लगाकर देखे तो पांडवों के वनवास के दिन समाप्त होचुके थे, द्रोण की भी यही संमति पड़ी, पर दुर्योधन यही समझता रहा कि अज्ञात वास के सम्पूर्ण होने से पूर्व ही पांडवों का पता चला, खूब हुआ, काम मार लिया-अब फिर पांडवों को तेरह वर्ष के लिये वन भेजेंगे - इस गोग्रहण युद्ध में कौरवों

की पाँडवों ने खूब मिट्टी खराब की, खूब-छीछालेदर हुई खर जान बचा कर सब वापस आये—उधर विराट् को अब पता चला कि ये पांडव हैं- उसके आश्चर्य व आनन्द की पराकाष्ठा होगई उसने उनका खूब सम्मान किया। उधर से कृष्ण बलराम सात्यकि आदि आये, इधर द्रुपद धृष्टद्युम्न आदि पहुंचे सबने पांडवों को सत्य प्रतिज्ञ होने पर बधाई दी, कुछ दिन बड़ी चहल पहल रही—पर आगे क्या ?

उद्योगपर्व (५)

पर आगे क्या यही प्रश्न सब के सामने था-कमेटी बैठी-और यही निश्चय हुआ कि पहले एक दूत भेजकर कौरवों का मत जानलेना चाहिये, राजी खुशी से यदि राज्य मिल गया तो वृथा युद्ध में क्यों पड़ना चाहिये ? एक वृद्ध नीतिज्ञ ब्राह्मण (जो विराट् का पुरोहित था) भेजा गया। उसको समझा दिया गया था कि बातचीत आदि में उधर खूब दिन लगावे, जल्दी न करे जिस से इधर युद्ध की तैयारी करने म. सुभीता पड़ेगा-सज धज के साथ ब्राह्मण कौरवों के पास पहुंचा-सब लोग एकचित्त हुए-दूत का सन्देश सुना गया और उपस्थित सभ्यों की राय ली जाने लगी। भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर सभी ने कहा कि निःसन्देह उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण होगई-उनका भाग उनको मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र भी लोक निन्दा से डरता था उसने भी दुर्योधन को ऊपरी२ खूब समझाया पर हठी दुर्योधन कब मानता। उसने स्पष्ट कहा कि पाण्डव अज्ञातवास होने के पूर्व ही पहिचान लिये गये उनको फिर तेरह वर्ष के लिये वन का रास्ता पकड़ना चाहिये, दूत लौट आया उसने सब वृत्तान्त सुनाया फिर इधर कमेटी बैठी

और अब की बार कमेटी में यह पास हुआ कि फिर एक बार यत्न करके देखना चाहिये और कृष्ण जी दूत बन कर जाँय। इतने में दूर दर्शी धृतराष्ट्र ने कहीं मामला न बिगड़ जाय, कहीं युद्ध न ठन जाय इसलिये एक दूत भेज दिया कि पाण्डवों को समझाये इसबार कौरवों का दूत था सञ्जय। सञ्जय ने आकर युधिष्ठिर से कहा कि तुम तो धर्मात्मा हो, धर्मतत्त्व को समझते हो, युद्ध से क्या लाभ, भयङ्कर आशा हानि से क्या कमाओगे इत्यादि तब अर्जुन वगैरह सब बिगड़ बैठे। सञ्जय को ऐसे उत्तर दिये कि बोलती बन्द होगई। अन्तमें वह यही कहते वहाँ से चलदिया कि क्या कहूं आप ठीक कहते हो पर मुझे जैसा बतलाया वैसाही मैंने तुमसे कहा है। सञ्जय से सब बातें सुनकर धृतराष्ट्र घबराया, विदुर को बुलवा कर सलाह पूछने लगा, विदुर ने समझाया कि राज्य का भाग देना ही अच्छा है पर शोक! पुत्र मोह के कारण धृतराष्ट्र की समझ में न आया। अब इधर से श्रीकृष्ण जी की बारी थी—ये भी शान से पहुंचे, इनका बड़ा स्वागत हुआ, बड़ी सभा हुई। श्रीकृष्ण ने सब ऊंच नीच समझाया। भीष्मादि ने कृष्ण के ही कथन की पुष्टि की। धृतराष्ट्र व गांधारी ने भी समझाया पर दुर्योधन कब मानता—उसने कहा "हे केशव! बिना युद्ध के सूई की नोंक जितनी भूमि भी नहीं दे सकता"— पाण्डव तो पांच ग्राम लेकर भी कहीं सानन्द से रहते पर वहां तो सुनता कौन है। मूढ़ दुर्योधन ने चाहा कि कृष्ण को बांध कर बन्दीगृह में डाल दिया जाय, पर उसको हिम्मत न पड़ी, चेष्टा विफल हुई। श्रीकृष्ण वहां से उठे विदुर के यहां गये वहां से कुन्ती की आज्ञा व पाण्डवों के लिये ओजस्वी सन्देश लेकर चल दिये—बस, होगया इस तरह यह

सुलह का प्रयत्न विफल हुआ। दोनों ओर से पृथ्वी भर के राजाओं के लिये निमन्त्रण पहुंचने लगे। उस समय क्षत्रियों का यह नियम था कि जिधर से पूर्व निमन्त्रण आता था उधर ही आने की प्रतिज्ञा करते थे—पाण्डवों की ओर कृष्ण हुवे और यादवों की सारी सेना दुर्योधन की ओर गई—पाण्डवों के पक्ष में सात अक्षौहिणी सेनाएँ थी और कौरवों की ओर अठारह अक्षौहिणी। बस होगया दोनों की सेनाएँ कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ीं। भीष्म, द्रोण, कृप ने इधर अपना डेरा जमाया उधर श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि ने जमाया।

भीष्म-पर्व [६]

जब इधर यह तैयारी होरही थी, भगवान व्यास ने चाहा कि किसी तरह युद्ध टल जाय तो अच्छा है। ये सीधे धृतराष्ट्र के पास पहुंचे, "दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करने लगे, जब कोई परिणाम न हुआ तब उन्होंने दिव्य दृष्टि से जान लिया कि कौरवों का अन्तकाल आया, तब दीर्घ श्वास लेकर बोले कि धृतराष्ट्र अब कौरवों का अन्तकाल आगया है, इसमें कोई क्या करे—यह टल नहीं सकता,—मैं सञ्जय को को दिव्य दृष्टि देता हूं जिससे यहां युद्ध स्थल में कहीं भी खड़ा हुआ सब जगह की घटनाओं का ज्ञान लिया करेगा और प्रतिदिन प्रतिक्षण के वृत्तान्त तुझे यहां सुनायेगा।। इतना कहकर वे चलदिये चलते चलते उन्होंने उस समय के उत्पातों को वर्णन किया और कहा कि इन उत्पातों से पता चलता है कि बड़ा ही रोमहर्षण युद्ध होगा—ऐसा युद्ध होगा जो आज तक कहीं भी पृथ्वी पर नहीं हुआ—यह युद्ध टल नहीं सकता परन्तु मैं इस युद्ध के पश्चात् कौरव पाण्डवों की कीर्ति को अजरामर करने के लिये एक अद्भुत महा काव्य रच

डालूंगा जब व्यास जी गये तब धृतराष्ट्र बहुत देर कुछ सोचते रहे पर उनके सोचने से क्या हो सकता था, मामला अब उनके क़ाबू का नहीं था—इधर कुरुक्षेत्र में दोनों ओर खूब तैयारी हो रही थी—जब सब तैयारियों के हो चुकने की खबर आ गई—दोनों ओर के व्यूह बन गये; रथी, महारथी, सब यथा-स्थान आडटे तब धृतराष्ट्र ने सञ्जय से पूछा, क्यों भाई क्या हाल है, क्या होरहा है, कौरव क्या कर रहे हैं? पाण्डवों का रङ्ग ढङ्ग क्या है? तब सञ्जय ने कहा कि—क्या पूछते हो विचित्र समारोह है-जब दोनों ओर के व्यूह बन गये तब दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा गुरो! देखिये, पाण्डवों की सेना कैसी तैयार खड़ी है। देखिये कैसे कैसे वीर आ डटे हैं। इधर मेरी सेना में देखिये कि कैसी वीरश्री सञ्चारित होरही है-पाण्डवों की सेना हमारी सेना के सामने क्षुद्र है-हमारी सेना पाण्डवों के बल को नहीं—अब आप लोगों कोचाहिये कि सेनापति भीष्म पितामह की सब प्रकार से रक्षा करें-इन्हीं पर हमारा सर्वस्व निर्भर है। यह वाक्य सुनकर पितामह बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़ा सिंहनाद किया था—फिर क्या था बजने लगे शंख, बजने लगे नक्कारे, बजने लगे स्फूर्ति दिलाने वाले अन्य अनेक वाद्य—पाण्डवों ने भी इस सिंहनाद का व शंखों का प्रत्युत्तर दिया. इतने में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा चलिये ज़रा आगे रथ को बढ़ाइये, ज़रा बीच में चलिये, देखूं तो सही कि कौन कौन हैं, किधर किधर हैं, किन किन से जुटना है। जब रथ बीच में आगया और अर्जुन ने दोनों ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसका मन घबराया कि मैं क्या करने लगा हूं-जिनसे लड़ना है वे तो सब मेरे इष्ट, मित्र, सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव ही तो हैं-बहुत वर्षों

तक वनों में तपस्वी रहने के कारण अथवा सम्बन्धियों के मोह से कहिये—अर्जुन कुछ काल के लिये स्वाभाविक क्षात्र धर्म को भूल गया और घोर परिणाम को सोच कर उसका जी पिघल गया और उसको युद्ध में हानियां ही हानियां दीखने लगी। अन्त में इन्हीं विचारों ने उसको इतना दबाया कि एक अबोध बालक की भांति वह धनुष बाण छोड़ कर रथ में नीचे सिर करके बैठगया और कृष्ण से कहने लगा "मैं तो ऐसा युद्ध नहीं करना चाहता"—जब कृष्ण ने अर्जुन की ऐसी दशा देखी तब उसने अर्जुन के मोह निवारणार्थ दिव्य उपदेश देना प्रारम्भ किया-"बस यहीं से भवद्गीता का प्रारम्भ है-उपदेश के पश्चात् आगे रण क्षेत्र में क्या क्या हुआ इसका फिर विचार करेंगे—चलिये प्रस्तुत भगवद्गीता की ओर——

....

——०——

——०——

महाभारत कब हुआ

(राज तरङ्गिणीकार कल्हण कवि का मत)

भारतं द्वापरान्तेऽभूत्, वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेता मृषा तेषां काल संख्या प्रचक्रिरे ॥ १ ॥
लब्धाधि पत्य संख्यानां, वर्षान् संख्याय भूभुजाम्।
भुक्तात्कालात्कलेः शेषो, नास्त्येवं तद्विवर्जितात् ॥ २ ॥
शतेषु षट्सु सार्द्धेषु अधिकेषु च भूतले।
कले गतेषु वर्षाणा मभूवन् कुरु पाण्डवाः ॥ ३ ॥

(१—४६—५१)

"आसन् मघासु मुनयः, शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ" (१—५६)

कलियुग के ६५३ वर्ष बीत गये थे तब महाभारत हुआ इस गणना से यह ज्ञात होता है कि महाभारत को हुए ४२७२ वर्ष बीत गये ।

ॐ तत्सत्

महाभारत युद्ध का कारण

(सु)दुर्योधन का राज्यलोभ

—o—

भारतीय युद्धकाल

आज से ५००० वर्ष पूर्व

—o—

इसवी सन् से ३००० वर्ष पूर्व

गीताध्याय (भीष्म पर्व अ० २५से४२)

१८

गीताश्लोक

७००

अध्याय	विषय	श्लोकसंख्या	किस२ के श्लोक की है।
१-	अर्जुन विषाद योग	४७	धृ० १ सं० २५ अ० २१
२-	सांख्य योग	७२	भ० ६३ सं० ३ अ० ६
३-	कर्म योग	४३	,, ३— ,, ४०

४- ज्ञान कर्म संन्यास योग	४२	,, ४१	,,	१
५- संन्यास योग	२६	,, २८	,,	१
६- ध्यान योग	४७	,, ४२	,,	५
७- ज्ञान विज्ञान योग	३०	,, ३०	,,	०
८- अक्षर ब्रह्म योग	२८	,, २६	,,	२
९- राजविद्या राजगुह्ययोग	३४	,, ३४	,,	०
१०- विभूति योग	४२	,, ३५	,,	७
११- विश्वरूप दर्शन	५५	,, १४ सं० ८	,,	३३
१२- भक्तियोग	२०	,, १९	,,	१
१३- क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग	३४	,, ३४	,,	०
१४- गुणत्रय विभाग योग	२७	,, २६	,,	१
१५- पुरुषोत्तम योग	२०	,, २०	,,	०
१६- दैवासुरसंपद्विभागयोग	२४	,, २४	,,	०
१७- श्रद्धात्रयविभागयोग	२८	,, २७	,,	१
१८- मोक्षसंन्यासयोग	७८	,, ७१ सं० ५	,,	२

अध्याय १८ श्लोक ७०० भगवान् कृष्ण के ५३७ संजय के ४१ अर्जुन के १२१ धृतराष्ट्र का १

यजुर्वेद में कर्मोपदेश

श्रेष्ठतमाय कर्मणे (अ० १-१)

कर्मणे वां वेषाय वां (अ० १-६)

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम् (अ० १-१३)

अक्रन् कर्म कर्मकृतः (अ० ३-४७)

व्रतं कृणुताग्निः (अ० ४-११)

कोऽदात् कस्मा अदात् (अ० ७-४८)

ततो मे भद्रमभूत	(अ० ८-६०)
यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्	(अ० ९-२१)
वयुनाविदेकः	(अ० ११-४)
विष्णोः कर्माणि पश्यत	(अ० १३-३३)
भद्रा उत प्रशस्तयः	(अ० १५-३९)
क्रतोर्भद्रस्य	(अ० १५-४५)
शिक्षा साखिभ्यः	(अ० १७-२१,२२)
कर्म च मे	(अ० १८-१५,२९)
वीर्यमसि वीर्यं मे धेहि	(अ० १९-९)
हस्तौ मे कर्म वीर्यम्	(अ० २०-८)
योगक्षेमो नः	(अ० २२-२२)
भद्रं कर्णेभिः	(अ० २५-२१,२२तुआ सो यत्रपितरो भवन्ति)
भिषजा शचीभिः	(अ० २७-९)
होतर्यज	(अ० २८)
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	(अ० ३१-१६)
येन कर्माण्यपसो	(अ० ३४-२)
अदीनाः स्याम	(अ० ३६-२४)
युञ्जते	(अ० ३७-२)
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	(अ० ४०-२)

यतः कर्म काण्ड का सम्बन्ध अधिकतर यजुर्वेद से अतः यजुर्वेद के ही मन्त्रों की प्रतीकें दी गई हैं अन्य वेदों में भी अनेक मन्त्र हैं; ग्रन्थ विस्तर के भय से यहाँ नहीं दिये गये।

उपनिषदों में कर्मयोग

ईशावास्यमिदं सर्वं (ईश -१)

कुर्व्वन्नेवेह कर्माणि (ईश-२) कर्मण्येवाधिकारस्ते (गी०)

न कर्मणामनारम्भाद् (गी०)

वर्त्त एव च कर्मणि (गी०)

न करोति न लिप्यते (गी०)

विद्याञ्चाविद्याञ्च (ईश ११) ज्ञान कर्मसमुच्चय (दोनों ज्ञान और कर्म) तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा (केन)

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते (कठ ६—१०, ११) गीता अ० ६ ध्यान योग (प्रश्न० ३—६,७)

श्रेयश्च प्रेयश्च (कठ २—१, २ } मार्गद्वय
देवयान, पितृयान (प्रश्न १-६,१० }

तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः (मुण्डक १-१)

यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा वर्त्तेथाः (तैत्तिरीय ११-४)

कर्मवेत्ता .... (ब्रह्मानन्द वल्ली ८)

पुरुषो वाव यज्ञः (छान्दोग्य ३-१६)

पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवंविदि (छान्दोग्य४-१४ अलेपवाद)

यदावै करोत्यथ निस्तिष्ठति (छान्दोग्य ७-२१)

कृतिस्त्वेव विज्ञासितव्या (,, ,,)

कर्मणा पितृलोकः (बृहदारण्यक १-१६)

यथाकारी यथाचारी (,, ४-४,५)

कर्म कुरुते (,, ४-३-२)

तत्कर्म कृत्वा (श्वेताश्वतर ६-३]

आरभ्य कर्माणि [,, ६-४]

कर्माध्यक्षः [,, ६-११]

यदा चर्मवदाकाशं (,, ६-२०)

कृष्ण का कर्म योग [न करोति न लिप्यते]
योगवासिष्ठ का अलेपवाद [अलेपवाद माश्रित्य]
छान्दोग्य का अलेपवाद [पुष्कर पलाशे ०—०]
गौड पाद का अस्पर्श योग [अस्पर्श योगो वै नाम]
ये सब एक ही है

ॐ तत्सत्

गीतान्तर्गत प्रश्नावली ।

धृतराष्ट्र का प्रश्न (१—१) कहो संजय कुरुक्षेत्र में क्या क्या होरहा है ?

अर्जुन का प्रश्न (१—३२) राज्य से क्या होगा ? भोगों से क्या बनेगा ?

„ „ (१—३६) कौरवों को मार कर हमारा क्या भला होगा ?

„ „ (१—३७) अपने ही सम्बन्धियों को मारकर हम सुखी होंगे ?

„ „ (१—३९) इस पाप कर्म से हम ही क्यों न हटें ?

कृष्णका प्रतिप्रश्न (२—२) तुझे यह मोह कहाँसे आगया ?

अर्जुनका प्रतिप्रश्न (२—४) पूज्य भीष्म द्रोण को कैसे मारूं ?

अर्जुनका प्रश्न (२—५४) स्थित प्रज्ञ किसको कहते हैं, वह कैसे रहता है ?

„ „ (३—१) इस घोर कर्म में मुझे क्यों लगा रहे हो ?

" " " (३—३६) इच्छा न रहते भी मनुष्य पाप क्यों करता है ?

" " " (४—४) आप द्वापर या त्रेता युग में थे इस बात को कैसे मानलूँ ?

" " " (५—१) संन्यास व कर्म योग में कौन सा श्रेष्ठ है ?

" " " ६-३३,३४) यह मन तो बड़ा ही चंचल है ? रोकें कैसे ?

" " " (६-३७, ३८, ३९) योग भ्रष्ट की क्या गति होती है ?

" " " (८—१, २) ब्रह्म किसे कहते हैं, ? अध्यात्म किसका नाम है ? कर्म क्या है ? अधिभूत और अधिदैव का स्वरूप क्या है ?

" " " (१०-१६, १७, १८) अपनी दिव्य विभूतियाँ तो बतलाओ मैं आपको कैसे जानूं ? कैसे ध्यान करूं ?

" " " (११—३) मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूं ?

" " , (१२—१) उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

" " " (१४—२१) गुणातीत किसको कहते हैं ?

" " " (१७—१) जो श्रद्धा सहित किन्तु विधि-रहित यजन करते हैं उनकी मानसिक स्थिति कैसी रहती है ?

" " " (१८—१) संन्यास व त्याग का तत्त्व क्या है ?
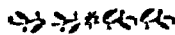
गीता में कर्म योग ।

द्वितीय, अध्याय-२, ३, १४, १८, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४७, ४८, ५०,

तृतीय, अध्याय-४, ५, ७, ८, ९, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, ३०,

चतुर्थ, अध्याय-१, ३, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२,

पञ्चम, अध्याय-२, ४, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३,

षष्ठ, अध्याय-१, २, ४०, ४६

अष्टम, अध्याय-७,

नवम, अध्याय—२७, २८

दशम, अध्याय—३८,

एकादश, अध्याय—५५

द्वादश, अध्याय—१०, ११, १२

त्रयोदश, अध्याय—२९, ३०, ३१

षोडश, अध्याय—२३, २४

सप्तदश, अध्याय—२६

अष्टादश, अध्याय-६, ७, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८

ज्ञानयोग तथा मिश्रित।

तृतीय, अध्याय-३,
चतुर्थ अध्याय-३६, ३७, ३८, ३६, ४०
षष्ठ, अध्याय-१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७
सप्तम, अध्याय-प्रायः
अष्टम, अध्याय-प्रायः
नवम, अध्याय—१५
त्रयोदश, अध्याय-७, ८, ६, १०
अष्टादश, अध्याय—७०,

"द्वाविमावथ पन्थानौ, यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः
प्रवृत्ति लक्षणो धर्मः, निवृत्तौ च विभावितः"
(व्यासः)

—o—

विषयसूची

[स्थूलविषय निरूपण]

प्रथमाध्याय (४७)

द्वितीयाध्याय (७२)

अर्जुन का सन्देह ४—१० आत्मतत्त्व-निरूपण ११—३० क्षत्रिय का कर्तव्य व प्रबोधन ३१—३८ बुद्धियोग ३९—४६ कर्म करने में ही अधिकार फल पर नहीं ४७—५३ स्थितप्रज्ञ ५५—६१ बुद्धिनाश कैसे होता है ६२—६३ स्थिरबुद्धि कैसे हो सकते हैं ६४—६५ अस्थिरबुद्धि की दशा ६६—६७ प्रज्ञा प्रतिष्ठान ६८ मुनि ६९—७२

तृतीयाध्याय (४३)

दो निष्ठाएँ २-३ प्रकृति के गुण ही कर्म कराते रहते हैं ४-५ मिथ्याचार (ढोंगी) ६ विशेषपुरुष ७ कर्म के लिये प्रेरणा ८-९ यज्ञ व प्रजा, परस्पर सम्बन्ध १०-१६ आत्मतृप्त पुरुष की दशा १७-१८ असक्त रह कर कर्म करो १९ लोकसंग्रह २०-२१ मैं क्यों कर्म करता हूँ २२-२४ लोक संग्रह का प्रकार २५-२९ मेरे मत को मानने न मानने से लाभ और हानि ३०-३२ निग्रह क्या कर लेगा ३३-३४ स्वधर्म ही कल्याणकारी है ३५ मनुष्य पाप क्यों करता है ? ३६-४३

चतुर्थाध्याय (४२)

योग परम्परा १-३ पुनर्जन्म ४-१० जैसा भाव वैसा फल ११-१२ चातुर्वर्ण्य का स्रष्टा १३ कर्म मुझ को नहीं लिपटते १४-१५ कर्म मीमांसा १६-२३ यज्ञमीमांसा २४-३२ समस्त कर्मों की ज्ञान में समाप्ति ३३-३९ अज्ञानी व सन्देहवादी को न यह लोक न परलोक ४०-४२

पञ्चमाध्याय (२९)

संन्यास व कर्मयोग २ नित्य संन्यासी ३-११ आसक्ति बन्धन का कारण १२ न करता हुआ, न कराता हुआ १३

स्वभाव १४ अज्ञान १५ ज्ञानी और समदर्शी १६-१८ उनकी दशा, सदा मुक्त २०-२९

षष्ठाध्याय (४७)

योगारूढ ४ आत्मोद्धार ५—६ योगी और उसका कर्त्तव्य ८-३२ मन की चञ्चलता ३४ उसके रोकने का उपाय ३५-३६ योगभ्रष्ट की गति

सप्तमाध्याय (३१)

अष्टधा प्रकृति ४ मुझ में ही सब परोया हुआ है ७—१२ चार प्रकार के उपासक १६ ज्ञानी, विज्ञानियों की गति

अष्टमाध्याय (२८)

अधिभूत आदि का लक्षण ३—४ भाव का प्रभाव ५—६ ॐ ९—१३ अहोरात्र गति १७—२० दो मार्ग २५—२७

नवमाध्याय (३४)

मैंने ही यह विस्तार किया ४—१० मेरी माया १६—२१ योगक्षेम २२ जो कुछ करो धरो मुझे ही अर्पण करदो २७-३४

दशमाध्याय (४२)

सब पदार्थ मुझसे ही हैं ४—८ बुद्धियोग का दाता मैं १०—११ वासुदेव की विभूतियां १९—४२

एकादशाध्याय (५५)

विश्वरूपदर्शन (सञ्जय के मुख से वर्णन) १०-१४ विश्व रूप दर्शन (अर्जुन के मुख से वर्णन) १५-३१ स्वरूपदर्शन (कृष्ण मुख से) ३२-३४ अर्जुन का अनुनय आदि ३६-५५

द्वादशाध्याय (२०)

उन्हीं का मैं उद्धार करता हूं २—७ मुझ में चित्त रक्खो ८ मुझ में बुद्धि स्थिर रखने का प्रकार ९-२०

त्रयोदशाध्याय (३४)

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ १–२ सविकार क्षेत्र ५–६ ज्ञान ७–११ ज्ञेय १२–१७ कर्त्तृत्त्व भोक्तृत्त्व २०—२३ ध्यान से, सांख्य से, योग से; कर्मयोग से २४–३४

चतुर्दशाध्याय (२७)

महद्योनि ब्रह्म ४ त्रिगुणनिरूपण ५–२० गुणातीतका लक्षण २२–२५ फल २६–२७

पञ्चदशाध्याय (२०)

ब्रह्मवृक्ष १–४ अव्ययपद ५—६ चार प्रकार का अन्न १४ क्षर-अक्षर १६ पुरुषोत्तम १८—२०

षोडशाध्याय [२४]

दैवी सम्पद् १–३ आसुरी सम्पद् ४ और ७–२० फल ५ नरकद्वार २१–२२ कार्याकार्य में प्रमाण-शास्त्र २३–२४

सप्तदशाध्याय [२८]

त्रिविध श्रद्धा २–३ त्रिविध आहार ८–१० त्रि विध यज्ञ ११–१३ त्रिविध तप १४–१६ त्रिविध दान २०–२२ सदसद्व्यवस्था २६–२८

अष्टदशाध्याय [७८]

संन्यास-त्याग २ त्याज्य; अत्याज्य ३–८ सात्त्विकत्याग ९–१२ पाँच कारण १३–१७ त्रिविध कर्मचोदना, कर्मसंग्रह गुणभेद १८–१९ त्रिविध-ज्ञान २०–२२ त्रिविधकर्म २३–२५ त्रिविध कर्त्ता २६–२८ त्रिविध बुद्धि ३०–३२ त्रिविध धृति ३३—३५ त्रिविध सुख ३७—३९ वर्णव्यवस्था ४१ ब्रह्मकर्म ४२ क्षात्रकर्म ४३ वैश्यशूद्रकर्म ४४–४५ फल ४५–४६ ज्ञान की पर-

निग्रः ५१-५६ प्रेरणा ५८-६३ मैं समस्त पापों से छुड़ा दूंगा ६६ कर्मयोग शास्त्र के अधिकारी ६७-६८ ज्ञानयज्ञ ७० श्रवणादि का फल ७१ अर्जुन का सन्देह निवारण ७३ सञ्जय का अभिप्राय ७४-७८
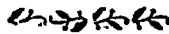
समबुद्धि = बुद्धियोगका दृष्टान्त

संवर्द्धकं छेत्तुमुपागतं वा।
छायादिभिर्विश्रामेणं करोति॥
वृक्षो यथा तद्वदरौ च मित्रे।
सम स्वभावो हरिदासवर्य्यः॥

जैसे वृक्ष पोसने वाला माली अथवा कुल्हाड़ी लेकर काटने को आये हुये पुरुषका समान रूपसे ही छाया फल आदि द्वारा सेवा सत्कार करता है और उनकी थकावट का उतार देता है इसी प्रकार समबुद्धि पुरुष शत्रु और मित्रमें समान भाव से वर्तता है-

—o—

उदयास्तमनज्ञो हि, न हृष्यति न शोचति।
सुखमापतितं सेवेत, दुःखमापतितं सहेत॥

(वन.)

उदय और अस्तकी मीमांसाको जानने वाला पुरुष उदय को देखकर न फूलता है, न अस्तको देखकर घबराता है, क्यों. कि वह जानता है कि उदयास्त का चक्र लगाही रहता है-इसी प्रकार आये हुये सुख दुःखके चक्रको निभाना चाहिये

सुखं वा यदि वा दुःखं, प्रियं वा यदि वाऽप्रियं।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत, हृदयेनापराजितः॥

(योगवासिष्ठ)

चाहे सुख आवे या दुःख चाहे प्रिय हो या अप्रिय जो संमुख आवे उसको अपराजित हृदयसे भुगतनाही चाहिये। न सुख आने पर हर्षित होना चाहिये न दुःख पड़ने पर घबराना चाहिये।

—o—

श्री भगवद्गीता।

पहला अध्याय॥

धृतराष्ट्र उवाच—(१)

१-धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

सञ्जय उवाच—(१६॥)

२-दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

३-पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

४-अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

५-धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

६-युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

७-अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

८-भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

९-अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीवताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

१०-अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

११-अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

१२-तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खम् दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

१३-ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

१४-ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

१५-पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

१६-अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

१७-काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

१८-द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

१९-स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

२०-अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
२१-हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते—

अर्जुन उवाच-(२१)

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
२२-यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
२३-योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच- (२४)

२४-एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
२५-भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
२६-तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान् सखींस्तथा ॥ २६ ॥
२७-श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच-(२८)

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
२९-सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
३०-गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

३१-निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
३२-न काङ्क्षे विजयं कृष्ण नच राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
३३-येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
३४-आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
३५-एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किंनु महीकृते ॥ ३५ ॥
३६-निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
३७-तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
३८-यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
३९-कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
४०-कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
४१-अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
४२-संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
४३-दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

४४-उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
४५-अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
४६-यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच-(१)

४७-एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥
इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
कृष्णार्जुनसम्वादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय ॥

सञ्जय उवाच-(१)

४८-तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-(२)

४९-कुतस्त्वाकश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
५०-क्लैव्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच-(४)

५१-कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

५२-गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

५३-न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः॥ ६॥

५४-कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

५५-नहि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

सञ्जय उवाच-(२)

५६-एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

५७-तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

श्री भगवानुवाच-(४५)

५८-अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

५९-न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

६०-देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

६१-मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

६२-यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

६३-नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

६४-अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

६५-अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

६६-य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

६७-न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

६८-वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

६९-वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

७०-नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

७१-अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

७२-अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

७३-अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

७४-जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

७५-अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

७६-आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

७७ देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

७८-स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

७९-यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

८०-अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

८१-अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

८२-भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

८३-अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

८४-हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

८५-सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

८६-एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

८७-नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

८८-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

८९-यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥

९०-कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

९१-भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

९२-त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

९३-यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

९४-कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

९५-योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

९६-दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

९७-बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

९८-कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

९९-यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

१००-श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच-[१]

१०१-स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच-[१८]

१०२-प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

१०३-दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

१०४-यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

१०५-यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

१०६-विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

१०७-यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

१०८-तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

१०९-ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

११०-क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

१११-रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

११२-प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

११३-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

११४-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

११५-तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

११६-या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९ ॥

११७-आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

११८-विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

११९-एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ
नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि
ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र० सांख्यायोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥
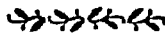
तीसरा अध्याय ॥

अर्जुन उवाच-[२]

१२०-ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
१२१-व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच-[६३]

१२२-लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
१२३-न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
१२४-नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
१२५-कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
१२६-यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

१२७-नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
१२८-यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
१२९-सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
१३०-देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
१३१-इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
१३२-यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
१३३-अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
१३४-कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
१३५-एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
१३६-यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
१३७-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
१३८-तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
१३९-कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

१४०-यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

१४१-न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

१४२-यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

१४३-उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४ ॥

१४४-सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

१४५- न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

१४६-प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

१४७-तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

१४८-प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

१४९-मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

१५०-ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

१५१-ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

१५२-सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

१५३-इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥
१५४-श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच-(१)

१५५-अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच-

१५६-काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
१५७-धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
१५८-आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
१५९-इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम् ॥ ४० ॥
१६०-तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
१६१-इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

१६२-एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र० कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय ॥

श्री भगवानुवाच (३)

१६३-इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
　　विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

१६४-एवम् परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
　　स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

१६५-स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
　　भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच-(१)

१६६-अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
　　कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

१६७-बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
　　तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

१६८-अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
　　प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

१६९-यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
　　अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

१७०-परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
　　धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

१७१-जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
　　त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

१७२-वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
　　बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

१७३-ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

१७४–काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

१७५–चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

१७६–न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

१७७–एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

१७८–किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६

१७९–कर्मणोऽह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

१८०–कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

१८१–यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

१८२–त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

१८३–निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

१८४–यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

१८५–गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम् प्रविलीयते ॥ २३ ॥

१८६–ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

१८७–दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

१८८–श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

१८९–सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

१९०–द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

१९१–अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

१९२–अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

१९३–यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

१९४–एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

१९५–श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

१९६–तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

१९७–यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

१९८–अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

१९९–यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

२००-न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

२०१-श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

२०२-अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
ना लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

२०३-योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

२०४-तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीता० कर्मब्रह्मार्पणयोगो-
नामचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवां अध्याय ॥

अर्जुन उवाच-(१)

२०५-संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-(२८)

२०६-संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

२०७-ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

२०८-सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

२०९-यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि लभ्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
२१०-संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥
२११-योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
२१२-नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
२१३-प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
२१४-ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
२१५-कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
२१६-युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
२१७-सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
२१८-न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
२१९-नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
२२०-ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
२२१-तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
२२२-विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

॥ शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
२२३-इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥
२२४-न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
२२५-बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
॥ स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥
२२६-ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेयः न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
२२७-शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
२२८-योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
॥ स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
२२९-लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषा ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
२३०-कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥
२३१-स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
२३२ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः :
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥
२३३-भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥
इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ।

छठा अध्याय ।

श्रीभगवानुवाच-[३२]

२३४-अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

२३५-यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

२३६-आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

२३७-यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

२३८-उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

२३९-बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

२४०-जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

२४१-ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

२४२-सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

२४३-योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

२४४-शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

२४५-तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

२४६-समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

२४७-प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

२४८-युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

२४९-नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

२५०-युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

२५१-यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

२५२-यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

२५३-यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

२५४-सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

२५५-यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२

२५६-तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

२५७-संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

२५८-शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

२५६-यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

२६०-प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

२६१-युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

२६२-सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

२६३-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

२६४-सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

२६५-आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच-

२६६-योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

२६७-चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच-(२)

२६८-असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

२६९-असंयतात्मनो योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच-(३)

२७०-अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
　　अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

२७१-कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
　　अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

२७२-एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
　　त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच-(८)

२७३-पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
　　न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

२७४-प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
　　शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो हि जायते ॥ ४१ ॥

२७५-अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
　　एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

२७६-तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
　　यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

२७७-पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
　　जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

२७८-प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
　　अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

२७९-तपस्विभ्योऽधिको योगी
　　ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
　　तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

२८०-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥
इति श्रीमद्भगव० आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवां अध्याय ॥

श्रीभगवानुवाच-[३०]

२८१-मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
२८२-ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
२८३-मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ ३ ॥
२८४-भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
२८५-अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
२८६-एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
२८७-मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
२८८-रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
२८९-पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
२९०-बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
२९१-बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
२९२-ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
२९३-त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥
२९४-दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
२९५-न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्तम् नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
२९६-चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
२९७-तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
२९८-उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
२९९-बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥
३००-कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
३०१-यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१॥
३०२-स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥
३०३-अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥
३०४-अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
३०५-नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥
३०६-वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥
३०७-इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परन्तप ॥ २७ ॥
३०८-येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
३०९-जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
३१०-साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० ज्ञानविज्ञानयोगोनाम
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

आठवां अध्याय ।

अर्जुन उवाच-(१)

३११-किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
३१२-अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—(२७)

३१३-अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

३१४-अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

३१५-अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

३१६-यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

३१७-तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यार्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

३१८-अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतनम् ॥ ८ ॥

३१९-कविं पुराणमनुशासितार—
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप—
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

३२०-प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

३२१-यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

३२२-सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

३२३-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

३२४—अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

३२५—मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ॥ १५ ॥

३२६—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

३२७—सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

३२८—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

३२९—भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

३३०—परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

३३१—अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमम् मम ॥ २१ ॥

३३२—पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

३३३—यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

३३४—अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

३३५—धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति—
र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

३३६—शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ २६ ॥
३३७—नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
३३८—वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदम् विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥
इति श्रीभगवद्गीता० योगशास्त्रे ऽक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवां अध्याय ।

श्रीभगवानुवाच-(३४)

३३९-इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
३४०-राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
३४१-अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
३४२-मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
३४३-न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
३४४-यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
३४५-सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

३४६-प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

३४७-न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

३४८-मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

३४९-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

३५०-मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

३५१-महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

३५२-सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

३५३-ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

३५४-अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

३५५-पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

३५६-गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

३५७-तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

३५८-त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक—
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

३५९—ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति ।
एवम् त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

३६०—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये नराः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

३६१—येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

३६२—अहं हि सर्वभूतानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

३६३—यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

३६४—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

३६५—यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

३६६—शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

३६७—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

३६८—अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

३६९-क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

३७०-मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

३७१-किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

३७२-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दसवां अध्याय ॥

श्रीभगवानुवाच—(११)

३७३-भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

३७४-न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

३७५-यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

३७६-बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

३७७-अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

३७८-महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

३७९-एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

३८०- अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

३८१-मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

३८२-तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

३८३-तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—(७)

३८४-परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

३८५-आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

३८६-सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

३८७-स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

३८८-वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

३८९-कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

३९०-विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच—(२७)

३६१-हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

३६२-अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

३६३-आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

३६४-वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

३६५-रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

३६६-पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

३६७-महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

३६८-अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

३६९-उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

४००-आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

४०१-अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

४०२-प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

४०३-पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

४०४-सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

४०५-अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

४०६-मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४॥

४०७-बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

४०८-द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

४०९-वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७॥

४१०-दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

४११-यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

४१२-नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

४१३-यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

४१४-अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गी० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवां अध्याय ।

अर्जुन उवाच—(४)

४१५-मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

४१६-भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

४१७-एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

४१८-मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच-[४]

४१९-पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

४२०-पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

४२१-इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

४२२-न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच-[६]

४२३-एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

४२४-अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

४२५-दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

४२६-दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

४२७-तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

४२८-ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच-(१७)

४२९-पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

४३०-अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

४३१-किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

४३२-त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

४३३-अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

४३४-द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

४३५-अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति

केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

४३६-रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा

वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

४३७-रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं

महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं

दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

४३८-नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं

व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

४३९-दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि

दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।

दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

४४०-अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

४४१-वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

४४२-यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥ २८ ॥

४४३-यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

४४४-लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

४४५-आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच—(३)

४४६ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

४४७-तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

४४८-द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

संजय उवाच-(१)

४४९-एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच-(११)

४५०-स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

४५१-कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्—
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

४५२–त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण–
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

४५३–वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

४५४–नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तेतु सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

४५५–सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण. हे यादव, हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

४५६–यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

४५७–पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

४५८-तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

४५६-अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

४६०-किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच-(३)

४६१-मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

४६२-न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

४६३-मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच- (१)

४६४-इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच-(१)

४६५-दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच-(४)

४६६-सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

४६७-नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

४६८-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

४६९-मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विश्वरूपदर्शनयोगोनामैका—
दशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय ॥

अर्जुन उवाच-(१)

४७०-एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—[१६]

४७१-मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

४७२-ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

४७३-संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

४७४-क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

४७५-ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

४७६-तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

४७७-मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

४७८-अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

४७९-अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

४८०-अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

४८१-श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२

४८२-अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

४८३-सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

४८४- यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

४८५-अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

४८६-यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

४८७-समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

४८८-तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

४८९-ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

तेरहवां अध्याय ॥

श्री भगवानुवाच-(२४)

४९०-इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

४९१-क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

४९२-तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

४९३-ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

४९४-महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

४९५-इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

४९६-अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

४९७-इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

४९८-असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

४९९-मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

५००-अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

५०१-ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

५०२-सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

५०३-सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

५०४-बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

५०५-अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १५ ॥

५०६-ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वेष्वधिष्ठितम् ॥ १७ ॥

५०७-इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

५०८-प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

५०९-कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

५१०-पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

५११-उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः ॥ २२ ॥

५१२-य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

५१३-ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

५१४-अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

५१५-यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

५१६-समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

५१७-समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

५१८-प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

५१९-यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

५२०-अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽस्य कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥
५१२-यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥
५२१-यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चौदहवां अध्याय।

श्रीभगवानुवाच—(२७)

५२४-परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥
५२५-इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥
५२६-मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥
५२७-सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥
५२८-सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥
५२९-तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

५३०--रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

५३१--तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

५३२--सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

५३३--रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

५३४--सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

५३५--लोभः प्रवृत्तिरारम्भःकर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

५३६- अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १० ॥

५३७--यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

५३८--रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

५३९--कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

५४०- सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

५४१- ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

५४२--नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

५४३-गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच--(१)

५४४-कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच--

५४५-प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥
५४६-उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३॥
५४७-समदुःखसुखः स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
५४८-मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
५४९-मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
५५०-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवां अध्याय ॥

श्रीभगवानुवाच-(२०)

५५१-ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

५५२-अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

५५३-न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

५५४-ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

५५५-निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै—
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

५५६-न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

५५७-ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

५५८-शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

५५९-श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

५६०-उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

५६१-यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

५६२-यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

५६३-गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

५६४-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

५६५-सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

५६६-द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

५६७-उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

५६८-यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

५६९-यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

५७०-इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः १५॥

सोलहवां अध्याय।

श्रीभगवानुवाच-(८४)

५७१-अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

५७२-अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलालुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

५७३-तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

५७४-दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

५७५-दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

५७६-द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

५७७-प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

५७८-असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

५७९-एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

५८०-काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

५८१-चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

५८२-आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

५८३-इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

५८४-असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

५८५-आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

५८६-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

५८७-आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

५८८-अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

५८९-तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

५९०-आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततोयान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

५९१-त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतात्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

५९२-एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

५९३-यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

५९४-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम
षोड़शोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सत्रहवां अध्याय ।

अर्जुन उवाच—(१)

५९५-ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहोरजस्तथा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-(२७)

५९६-त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
५९७-सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
५९८-यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
५९९-अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
६००-कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
६०१-आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
६०२-आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः ॥८॥
६०३-कट्वाम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकभयप्रदाः ॥ ९ ॥

६०४-यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

६०५-अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

६०६-अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

६०७-विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

६०८-देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

६०९-अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

६१०-मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

६११-श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

६१२-सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

६१३-मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

६१४-दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

६१५-यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

६१६-अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

६१७-ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३॥

६१८-तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

६१९-तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

६२०-सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

६२१-यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।

६२२-अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अठारहवां अध्याय ।

अर्जुन उवाच—(१)

६२३-संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

६२४-काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

६२५-त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

२६-निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

६२७-यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

६२८-एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

६२९-नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

६३०-दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

६३१-कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

६३२-न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

६३३-न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

६३४-अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

६३५-पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

६३६-अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

६३७-शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

६३८-तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

६३९-यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

६४०-ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
　　करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८ ॥

६४१-ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
　　प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

६४२-सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
　　अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

६४३-पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
　　वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

६४४-यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
　　अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

६४५-नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
　　अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

६४६-यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
　　क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

६४७-अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्
　　मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम्॥२५॥

६४८-मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
　　सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

६४९-रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
　　हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

६५०-अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
　　विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

६५१-बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
　　प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

६५२-प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
　　बन्ध मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३० ॥

६५३-यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

६५४-अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

६५५-धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

६५६-यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

६५७-यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिःसा पार्थ तामसी ॥३५॥

६५८-सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

६५९-यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

६६०-विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

६६१-यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

६६२-न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

६६३-ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

६६४-शमो दमस्तपःशौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।

६६५-शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।

६६६-कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

६६७-स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

६६८-यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

६६९-श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

६७०-सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

६७१-असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

६७२-सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

६७३-बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

६७४-विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

६७५-अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

६७६-ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

६७७-भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

६७८-सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

६७९-चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

६८०-मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

६८१-यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

६८२-स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

६८३-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

६८४-तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

६८५-इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

६८६-सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

६८७-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

६८८-सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

६८९-इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

६९०-य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

६९१-न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

६९२-अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

६९३-श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्। ७१॥

६९४-कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच=(१)

६९५-नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

संजय उवाच—

६९६-इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

६९७-व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

६९८-राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

६९९-तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

७००-यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

---

(१)

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च, गीता भगवता स्वयम् ॥

(शान्तिपर्व)

जब संग्राममें कौरव पाण्डवों की सेना एकत्रित हुई और अर्जुन का मन उदास हुआ तब स्वयं भगवान् कृष्ण ने उपदेश दिया ।

(२)

"सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत्" ॥

(गीताध्यान)

समस्त उपनिषद्रूपी गौओं को दोहने वाला कृष्ण है दूध पीने-वाला बछड़ा है अर्जुन, और दूध है गीतारूपी अमृत ।

(३)

"कश्मलं यत्र पार्थस्य, वासुदेवो महामतिः ।
मोहजं नाशयामास, हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ॥"

(महाभारत आ० २-२४७)

जिस गीतामें कि महामति वासुदेव ने मोक्ष दिखाने वाले हेतुओं से अर्जुन की मोह से उत्पन्न हुई उदासीनता को नष्ट कर डाला ।

उपदेश का स्थान—कुरुक्षेत्र।

उपदेष्टा—साक्षात् भगवान् कृष्ण।

उपदेश्य—विमूढ अर्जुन।

मुख्य विषय— कर्मयोग=बुद्धियोग=असंगवाद= असपर्शयोग।

उपदेश का प्रयोजन—विमूढ अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना।

उपदेश का अधिकारी—स्वयं अर्जुन, और उस जैसा कर्त्तव्यविमूढ कोई भी।

सम्बन्ध—प्रतिपादक शास्त्र 'गीता' है और प्रतिपाद्य विषय है 'कर्मयोग'

उपदेश का फल—अर्जुन का मोह नष्ट हुआ। वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

(गी० १८-७३)

परिणाम

पाण्डवों की विजय हुई कौरवों का क्षय हुआ।

यतो धर्मस्ततो जयः

यतोऽधर्मस्ततोऽजयः

—०—

कर्मयोग की महिमा

(गी० २-४०)

कर्मयोग का प्रकार

(गी० २-४७)

लोकसंग्रह
(गी० ३-२०)
लोकसंग्रह क्यों ?
(गी० ३-२१)

———o———

———•———

द्विधा निष्ठा (गी० ३-३)

ज्ञानयोग=सांख्ययोग	कर्मयोग
(कर्मसंन्यास)	(कर्मफलसंन्यास)

दोनों का एकसा फल
(गी० ५-४, ५)
ब्रह्माधिगम=मोक्ष

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६—४६)

शुक, याज्ञवल्क्य आदि ज्ञानयोगी हुए ।

व्यास, वसिष्ठ, जैगीषव्य श्रीकृष्ण, जनक आदि कर्मयोगी हुए।

योगवासिष्ठ ।

"मम नास्तिकृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि, ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥"

मेरा कर्म करने से भी कुछ प्रयोजन नहीं, न खाली बैठने से ही कुछ प्रयोजन है । जैसी स्थिति होनी है वैसा ही करता हूं; अकर्म (खाली बैठने) में क्या हठ है ?

हारीत स्मृति

"द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥"

जैसे पक्षी दोनों पंखों से उड़ता है इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों ही हों तो शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

अष्टावक्र गीता ।

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलगामिनी ॥—"

मूढ पुरुष की निवृत्ति भी प्रवृत्ति बन जाती है और धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति का फल प्राप्त करा देती है ।

विशेषमत (अलेपवाद)

"विवेकी सर्वदा मुक्तो कुर्वतो नास्ति कर्तृता
अलेपवादमाश्रित्य, श्रीकृष्णजनकौ यथा—"

विवेकी पुरुष तो सदा मुक्त ही है, वह कर्म करता हुआ भी कर्त्ता नहीं रहता, क्योंकि वह अलेपवाद का आश्रय लिये रहता है, कर्मफल से अलिप्त रहता है—जैसे श्रीकृष्ण और जनक ।

—o—

ॐ तत्सत्

श्रीमद्भगवद्गीता-अनुवाद।

[इस अनुवादमें ऐसा यत्न किया गया है कि पुनरुक्ति न आने पावे और थोड़े शब्दों में भाव ज्ञात हो। बीच के अङ्कों की ओर ध्यान न देकर आप एक सिरे से पढ़ते चले जांयगे तो एक सुन्दर कथा पढ़ने का आनन्द प्राप्त होगा]

* ॐ तत्सत् *

श्रीमद्भगवद्गीता ॥

प्रथमोऽध्यायः ।

(अर्जुनविषादयोगः)

धृतराष्ट्र ।

१— १-अहो सञ्जय ! पुण्य कुरुक्षेत्रमें युद्ध की लालसा से एकत्रित हुए मेरे पुत्रों और पाण्डवों ने क्या क्या किया ?

सञ्जय ।

२—११ २- पाण्डवों की व्यूहरचना और उनकी उस तैयारी को देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास गया और बोला ३-आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न की इस व्यूहरचना को देखिये, ४-इसमें भीम और अर्जुन के समान बड़े बड़े धनुर्धारी और सात्यकि, विराट, द्रुपद ५-धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, श्रेष्ठ शैब्य ६-पराक्रमी युधामन्यु और उत्तमौजा, सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु जैसे सभी महारथी हैं। ७-अब हमारे ख़ास ख़ास योद्धाओं को देखिये जो कि सेना नायक हैं, पहचान के लिये कहरहा हूं ८-आप,

भीष्म, कर्ण, और रणजित् कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा ९-इसी प्रकार अन्य बहुत से अस्त्रशस्त्रधारी शूर वीर युद्ध विशारद, मेरे लिये प्राण देन को तैयार खड़े हैं १०-भीष्म से रक्षित हमारी यह सेना खूब फैली हुई है और पाण्डवों की भीमरक्षित सेना छोटीसी दीखती है ११-अपने मोर्चों पर डटे हुए आप लोग मिल जुलकर भीष्म की चारों ओरसे रक्षा कीजिये। इधर दुर्योधन यह कह ही रहा था कि उधर—

१२—२१ १२-बूढे भीष्मपितामह ने दुर्योधन को उत्साह दिलाने के लिये बड़ी सिंहगर्जन की और युद्ध का शंख बड़े ज़ोर से फूँका १३-फिर क्या था, बजने लगे चहुं ओर शंख, युद्ध के नगारे, और नाना प्रकारके युद्धके बाजे, और हुआ एक रामरौला १४-तब सफ़ेद घोड़े वाले बड़ेरथ मे बैठेहुए कृष्ण और अर्जुनने भी अपने अपने दिव्य शङ्ख फूँके १५-कृष्णने अपना पाञ्चजन्य बजाया, अर्जुन ने देवदत्त फूँका, भीमकर्मा भीमने पौण्ड्र १६-युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणि पुष्पक नामक अपने अपने शंख बजाये १७-महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न अजेय सात्यकि १८-द्रुपद द्रौपदी के पंच पुत्र, महाबाहु अभिमन्यु, इन सभी महावीरों ने अपने अपने शंख अलग अलग

बजाये १९-यह शंखों का रामरौला इतना बड़ा हुआ कि उससे आकाश पाताल एक होगया और कौरवों का हृदय विदीर्ण हुआ २०-जब अर्जुनने कौरवों का ठीक रीतिसे अड़े या खड़े हुए देखा और मार काट का मौक़ा आया तब २१-वह धनुष को खींचकर कृष्णसे बोला—

अर्जुन—

२१—२३ हे कृष्ण, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्यमें खड़ा करो २२-जिससे देख तो लूं कि कौन कौन युद्ध के लिये खड़ा है और किस किस के साथ मुझे लड़ना है २३-दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रियकामना से जो यहाँ लड़ने के लिये उपस्थित हुए हैं उन्हे देखूंगा।

२४—२८ २४-यह सुनकर कृष्ण रथको दोनों सेनाओं के मध्यमें लेगये २५-और भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओं के समक्ष अर्जुन से बोले अर्जुन, इन एकत्रित हुए राजाओं को देखो २६-तब अर्जुन ने देखा तो सामने पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती मित्र २७-ससुर स्नेही सब खड़े हुए हैं तब परिणाम पर दृष्टि डालकर २८-अर्जुन को खेद हुआ और दुःखित होकर बोला।

अर्जुन—

२८-४६ २८-हे कृष्ण अपने ही मनुष्यों को युद्ध की इच्छा से उपस्थित हुए देखकर, २९-मेरा शरीर काँप रहा है, मुख सूखा जाता है, बदन ढीला

पड़ रहा है रोम खड़े होरहे हैं ३०-गांडीव धनुष हाथ से गिरा जाता है, मन घबरा रहा है, शरीर में दाह होरहा है, मैं खड़ा नहीं रह सकता ३१-केशव ! मैं तो उलटे ही लक्षण देख रहा हूँ, अपने ही सम्बन्धियों को युद्धमें मारने में मुझे कोई लाभ नहीं दीख रहा है ३२-न मुझे विजय चाहिये, न राज्य, न सुख। इस राज्य, और भोग या जीवन से ही क्या लाभ है ? ३३-राज्य, भोग और सुख जिनके लिये होते हैं वे तो स्वयं प्राण देने को और लड़ने को तयार होरहे हैं ३४-यह देखो, आचार्य, पितर, पितामह, मामा. भान्जा, इष्ट मित्र, बन्धु बान्धव, ससुर, साले ३५-मैं तो इनको मारना नहीं चाहता, इस पृथ्वी के लिये क्या, त्रिलोकी के लिये भी मैं ऐसा नहीं करूं-गा ३६-भला इन कौरवों को मारकर हमारा क्या भला होगा, इन आततायियों को मारकर हमको पाप ही लगेगा ३७-इसलिये अपने ही इन भाइयों को मारना अनुचित है और माधव, तुम्हीं बतलाओ कि अपने ही मनुष्यों को मारकर हम सुखी क्योंकर होंगे ३८-यद्यपि लोभी ये लोग कुलक्षय और मित्रद्रोह के पातक को नहीं समझते ३९-तो भी इस बात को जानने वाले हम क्यों न इस पाप से बचें ? ४०-कुलक्षय हुआ तो कुलधर्म कहाँ रहा, कुलधर्म गया तो सारा धर्म ही नष्ट हुआ

समझिये। जब धर्म गया तब अधर्म कुल को दबा देगा ४१-जब अधर्म चला तब स्त्रियों की रक्षा कैसी ? फिर वर्णसंकर होगा ४२-संकर हुआ कि नरक का द्वार खुला फिर पितरों की पिण्डदान क्रिया कौन करेगा ? ४३-इन्हीं दोषों से फिर जातिधर्म कुलधर्म सब जाते रहते हैं ४४-जिन के कुलधर्म नहीं वे फिर निश्चित ही नरक में वास करते हैं—इन सब बातों को हम पूर्वजों से सुनते चले आरहे हैं ४५-अहा ! आश्चर्य है कि हम पाप कमाने खड़े होरहे हैं, राज्य सुख के लिये अपने ही सम्बन्धियों को मारना चाहते हैं ४६-अच्छा तो यही हो कि मैं शस्त्र छोड़कर बैठूं और ये कौरव आकर मुझ को मार डालें तभी मेरा कल्याण होगा।

सञ्जय ।

४७— ४७-ऐसा कहकर, धनुष-बाण छोड़ करके शोक से व्याकुल हुआ अर्जुन रथमें अपने स्थान पर बैठ गया।

(इतिप्रथमोऽध्यायः)

—-०—
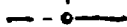
द्वितीयोऽध्यायः ॥

(सांख्ययोगः)

सञ्जय ।

१— १-इस प्रकार विकल और आँखों में आँसू लाये हुए अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा—

कृष्ण ।

२—३ २-अर्जुन, ऐसे विकट समय में यह मोह तुझको कहाँसे चिपटा । ऐसा मोह अनार्यों को हुआ करता है, इससे स्वर्ग नहीं मिलता, कीर्त्ति नष्ट होजाती है ३-ऐसी हिम्मत न हारो, ऐसा करना तेरेलिये उचित नहीं; हृदयकी इस क्षुद्र दुर्बलता को हटाकर वीर पुरुष के तुल्य खड़े तो होजाओ ।

अर्जुन

४—८ ४-पूजनीय भीष्म व द्रोणको बाणोंसे कैसे बींधूँ ५-महानुभाव गुरुजनों को न मार कर लोकमें भिक्षा मांगना अच्छा लोभी गुरुओं का मार कर इसी लोकमें लहू से सने हुए भोगों को कौन भोगे ? ६-यही पता नहीं चलता कि वे बड़े कि हम बड़े, वे जीतेंगे कि हम ? जिनको मार कर हम स्वयं जीना नहीं चाहते वे ये धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे संमुख खड़े हैं, क्या करें ? ७-दयाके कारण मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है, इसलिये मैं तुमसे पूँछता

हूँ, जिसमें निश्चित कल्याण हो वह कहिये, मैं आपका शिष्य हूँ आज्ञा करो ८-संसारमें निष्कण्टक राज्य या स्वर्गका आधिपत्य मिलने परभी मुझको ऐसा कोई उपाय नहीं दीख पड़ता जो मेरे गात्रोंको सुखाने वाले इस शोकको दूर कर सके,

सञ्जय

९-१० ९-ऐसा श्रीकृष्णसे कहकर "मैं तो नहीं लड़ूँगा" अर्जुन चुप हो गया, १०-तब श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओंके मध्यमें उदास बैठे हुये अर्जुनको मुस्करा कर कहा—

११-५२ ११-अर्जुन, बातें तो पण्डिताईकी कर रहे हो और जिनका शोक नहीं करना चाहिये उनके लिये शोक कर रहे हो, यहभी जानते हो कि पण्डित लोग चाहे कोई मरे चाहे कोई जिये शोक नहीं किया करते १२, देखो न, यह तो बात है ही नहीं कि पहले मैं, तुम, या यह राजे नहीं थे, या भविष्य मे नहीं होंगे १३-जैसे शरीर धारी को बालक, युवक, और वृद्ध होना पड़ता है इसी प्रकार आत्माको जन्म जन्मान्तरमें अनेक शरीर मिलते रहते हैं, इसीलिए धीर पुरुषको मोह नहीं होता १४-गरमी, सरदी, सुख, दुःख देने वाले बाह्य सृष्टिके पदार्थोंके संयोग आते जाते रहते हैं इस लिये अनित्य हैं, उनको सहना ही चाहिये १५-जिसको ये संयोग वियोग नहीं सताते और जो पुरुष श्रेष्ठ सुख दुःखों में समवृत्ति रहता है बस वही अमर हो जाता है १६-जो है उसको

नाश नहीं होता है, जो नहीं है वह आ नहीं सकता। तत्त्वदर्शियों ने इन दोनोंका अन्त देख कर ही यह निश्चय किया है १७-जिसने इस समस्त जगत्को विस्तृत किया वह आत्मतत्व अविनाशी है, उस अविनाशीका नाश कौन कर सकता है १८-नित्य अविनाशी अचिन्त्य आत्माके ये शरीर अनित्य हैं इसलिये अर्जुन! बेखटके हो कर लड़ो १९-जो इसको मारने वाला या मारा जाने वाला समझता है वह अज्ञानी पुरुष है, न तो यह आत्मा मारता है न यह किसी से मारा जाता है २०-न वह जन्मता है न मरता है, यह भी नहीं कि एक बार जन्म लेकर फिर जन्म न लेवे, वह अज है, नित्य है, शाश्वत है, प्राचीन से प्राचीन है इस कारण शरीरका वध हो जाय तो भी वह मारा नहीं जाता २१-पार्थ! तुमही बतलाओ कि जो इस आत्मतत्व को अज, अव्यय, अविनाशी जानता है वह भला किसको मारेगा या मरवावेगा २२-जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है इसी प्रकार यह आत्मा जीर्ण शरीरोंको छोड़ कर नये शरीर धारण कर लेता है २३-इसको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगा या गला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता, २४-यह न कटने वाला, न जलने वाला, न गलने वाला, न सूखने वाला नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल, सनातन है २५-यह अव्यक्त इन्द्रियों से

न दीखने वाला अचिन्त्य, अविकारी, कहा जाता है इसलिये इसको जानकर तुमको शोक नहीं करना चाहिये २६-यदि तुम आत्माको सदा मरने जीने वाला समझते हो तो भी तुमको शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि अब मरेगा तो फिर उत्पन्न होगा, फिर शोक क्यों ? २७-जो जो उत्पन्न होगा वह अवश्य मरेगा, यह अटल नियम है फिर शोक क्यों २८-सृष्टि उत्पत्तिके पूर्व सब कुछ अव्यक्त था, फिर मध्य में व्यक्त हुआ, फिर अन्त में अव्यक्त ही होना है फिर सोच क्यों ? २९-कोई तो इस आत्मतत्व को देखकर चकित होता है कोई आश्चर्य समझ कर इसका वर्णन करता है, कोई आश्चर्य से सुनता है, और कोई सुनकर भी नहीं समझने पाता ३० आत्मा नित्य है अवध्य है, इसलिये तुम इन भूतोंके लिये सोच मत करना ३१-अपना (क्षत्रिय) धर्मका ध्यान करकेभी तुमको कांपना नहीं चाहिये क्षत्रिय केलिये धर्मयुद्ध से बढ़कर और क्या कल्याणकारी हो सकता है ३२-अपने आप उपस्थित हुआ हुआ स्वर्गद्वार खुले हुए के सदृश ऐसा यह युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों के ही नसीबमें होता है ३३-यदि धर्म केलिये छिनकर इस युद्ध को नहीं करेगा, तो तेरा धर्म नष्ट होगा, कीर्ति नष्ट होगी और उलटा पाप चढ़ेगा ३४ लोग सदा तेरी निंदा किया करेंगे, भले आदमी की निंदा तो मरण से भी अधिक बुरी है ३५-कोई कहेगा अर्जुन डरकर भागगया और जिनकी दृष्टि में अबतक तुम अच्छे हो, गिरजाओ

गे ३६-तेरे शत्रु तेरी खूब निन्दा करेंगे। तेरी शक्ति को इस प्रकार निंदा होना इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा ३७ यदि तुम युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा, यदि तुम जीत गये तो पृथिवी का भोग भोगोगे, इसलिये युद्धका निश्चय करके खड़े होजाओ ३८-सुख दुःख, लाभ अलाभ, जय अजय, इनको समान समझ कर युद्ध में लगो फिर तुमको पाप नहीं लगेगा ३९-यह मैंने तुम को सांख्यतत्व समझाया है, अब बुद्धियोग के तत्वको सुनो जिससे युक्त होकर तुम कर्मबन्धन में छूट जाओगे ४०-इस बुद्धियोगमें यह विशेषता है कि इस में एक बार प्रारम्भ किये कर्म का कभी नाश नहीं होता, इसमें विघ्न बाधा नहीं पड़ती और श्रद्धापूर्वक थोड़ासा भी अनुष्ठान किया जाय तो बड़े भारी भय से रक्षा हो जाती है ४१-इसलिये देखो, एक निश्चयात्मक बुद्धि बनालो जो निश्चयात्मक बुद्धि नहीं बना लेते उनकी नाना मतियां हो जाती हैं ४२-कोई तो फलश्रुति से ही कर्मकाण्ड में रत रहते हैं कर्मकाण्ड के अतिरिक्त उनको कुछभी अच्छा नहीं लगता ४३-वासना वाले ये लोग स्वर्ग की कामना से और भोग और ऐश्वर्य की लालसा से ऐसे कर्म करते रहते हैं जिस से जन्ममरण के बन्धन में पड़ें ४४-और उधर ध्यान होने से और भोगादि में सक्त रहने से उनकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती ४५-हे अर्जुन

यह कर्मकाण्ड तो त्रिगुणात्मक (सत्व, रज, तम) है और तुमको चाहिये कि तुम इन त्रिगुणों से अलिप्त रह कर सुख, दुःख, योग, क्षेम इन के चक्करमें न आकर आत्मनिष्ठ बनो ४६-जब चहुँ ओर जल बहता हो तो कूप का क्या प्रयोजन? जब ब्राह्मण ज्ञानकी पराकाष्ठा को पहुंच चुका तब कर्मकाण्ड से क्या? ४७—इसलिये केवल कर्म करने मात्रका तुमको अधिकार है, फल पर अधिकार नहीं, वह तो ईश्वरके अधीन है, इसलिये फलपर दृष्टि रखकर काम न करो और खाली भी न बैठो ४८ संगको छोड़ कर सिद्धि असिद्धिमें सम रहकर समबुद्धिसे काम करो, सम रहनेका नामही योग है ४९-इस बुद्धियोग की अपेक्षा बाह्यकर्म हेच है इसलिये बुद्धियोग कर्मयोग की शरण गहो, फलके लिये काम करने वाले लोग निकृष्ट श्रेणी के है ५०-समबुद्धि से कर्म करने वालोंको पाप पुण्य नहीं छूता, इसलिये कर्मयोग करो और कर्ममें समबुद्धि से काम करने के कौशल को ही कर्म योग कहते हैं ५१-बुद्धिमान् पुरुष फलकी वासना छोड़कर जन्म बन्धन से छूटकर परमेश्वर के दुःखरहित पदको प्राप्त कर लेते है ५२-जब तेरी बुद्धि मोह के गदले आवरण को पार कर लेगी तब तेरे लिये कहना सुनना कुछभी नहीं रहेगा ५३-नाना प्रकारके श्रुति वाक्योंसे संदेह में पड़े हुए तेरी बुद्धि जब समाधिवृत्तिमें स्थि-

र होने लगेगी तब तुम इस बुद्धियोगको प्राप्त करोगे ।

अर्जुन

५४ ५४-समाधिमें लगे हुए स्थितिप्रज्ञ का क्या लक्षण है ? वह कैसे बोलता है, कैसे उठता बैठता और व्यवहार करता है ?

कृष्ण-

५५—७२ ५५-जो मन के सब संकल्पों को छोड़कर भीतर ही भीतर अन्तरात्मामें प्रसन्न रहता है वही स्थितप्रज्ञ है ५६-दुःखों से वह घबराता नहीं, सुखों को वह चाहता नहीं, राग, भय, क्रोध से दूर रहता है ५७-जो कहीं भी ममत्व रखता नहीं शुभ को देखकर खुश और अशुभ को देखकर दुःखी नहीं होता वही स्थितप्रज्ञ है ५८-जो कछुए के सदृश विषयों से सब इन्द्रियों को हटा लेता है वही स्थितप्रज्ञ है ५९-जब पुरुष खाना पीना छोड़ देता है तब उस की इन्द्रियां विषयों से हट जाती हैं सही पर पुरुष की विषयों में चाह बनी रहतीहै,परन्तु जब वह साक्षात् परब्रह्मको देखलेताहै तब वह चाहभी नहीं रहती ६० देखो अर्जुन! बुद्धिमान् मनुष्य दमन का यत्न करता रहता है तो भी इन्द्रियें बलात्कार से मन को हर लेती हैं ६१-इसलिये दमन करते हुए मेरा ध्यान रखना चाहिये, जिस के वश में इन्द्रियां

है वही तो स्थितप्रज्ञ है, ६२–जब पुरुष विषय का ध्यान करता है तब उन में संग हो जाता है, संग से इच्छाएँ प्रबल होजाती हैं फिर जब उन में बाधा पड़ती है तब क्रोध भी आजाता है ६३-क्रोध से मोह और मोह से स्मृति भ्रष्टहो जाती है, स्मृति भ्रष्ट हुई कि मति भी भ्रष्ट हुई, मति गई कि नाश हुआ ६४–जो राग द्वेष में न फँसकर, इन्द्रियों को वश में रखकर चलते हैं, उनका चित्त प्रसन्न रहता है ६५–चित्त प्रसन्न हुआ कि दुःख भाग गये, बुद्धि स्थिर हुई ६६— जिस की बुद्धि स्थिर नहीं, उसको शान्ति कहां, जो अशान्त है उसको सुख कहां ६७–जब मन इन्द्रियों के पीछे पीछे चलता है वही तो बुद्धि के नाश का कारण है जैसे जल में वायु नौका को जिधर चाहे ले जाती है ऐसे ही मन की दशा होती है ६८–इसलिये विषयों से जिसने इन्द्रियों को थाम रक्खा है वही स्थितप्रज्ञ है ६९–जब सब लोग सोते हैं तब ज्ञानी जागता रहता है और जब वे जागते हैं तब वह सोता है, अज्ञानी पुरुषों के दिन और रात इस के रात और दिन बने रहते हैं ७०–समुद्र नदियों द्वारा रात दिन भरा जाता है तो भी वह अचल रहता है, मर्यादा भंग नहीं करता इसी प्रकार काम अर्थात् वासनाओं के आने पर जो स्थिर रहे वही शान्ति प्राप्त करसकता

है न कि वासनाओं के पीछे दौड़ने वाला ७१-निःस्पृह, निर्मम निरहङ्कार होकर और सब वासनाओं को छोड़कर जो चलता है वही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है ७२-ऐसी स्थिति का नाम ही "ब्राह्मी स्थिति" है, इस को प्राप्त कर फिर कोई मोह में नहीं फँस सकता, मरने के समय भी इस में रहकर ब्रह्म के स्वरूप में मिल जा सकता है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः

कर्मयोगः।

अर्जुन—

१—२ १—यदि कर्म की अपेक्षा साम्यबुद्धि श्रेष्ठ है तो फिर हे केशव! मुझे इस घोर कर्म में क्यों लगा रहे हो २—ऐसी दुटप्पी बातें करते हो कि मेरी बुद्धि चकरा जाती है, एक निश्चित बात कहो जिस से मेरा कल्याण हो,—

कृष्ण—

३—३५ ३—हे अर्जुन इस लोक में दो निष्ठाएँ हैं, ज्ञान-योग से सांख्यों को और कर्मयोग से योगियों की ४—केवल कर्मों के प्रारम्भ न करने से पुरुष निष्कर्म नहीं होता और न कर्मों को छोड़ देने से ही सिद्धि को प्राप्त होसकता है ५—कोई एक क्षण के लिये भी तो खाली नहीं

रहस्यता, प्रकृति के गुण वशात् उस से कर्म कराते रहते हैं ६—जो ऊपर ऊपरसे इन्द्रियों को रोककर भीतर ही भीतर विषयों को सोचता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् ढोंगी है ७—जो इन्द्रियों को मन से रोककर असक्त रहता हुआ कर्मेन्द्रियों से कामलेता है वही विशिष्ट पुरुष है ८—स्वभावानुरूप जो कर्म नियत है उस को करो कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना अच्छा, खाली बैठे रहोगे तो शरीरयात्रा भी तो न चले गी ६—यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनको छोड़ कर शेष सब कर्म बन्धन का हेतु होते हैं इसलिये तुम यज्ञार्थ कर्म करो पर असक्त रहकर करो १०—प्राचीन काल की बात है कि प्रजापति ने प्रजा को यज्ञसहित उत्पन्न किया और कहा कि यज्ञ द्वारा ही तुम्हारी वृद्धि होगी और यज्ञ ही तुम्हारी कामधेनु है। ११—इससे देवोंकी पूजा करो, और देव तुम्हारी कामनाओं को पूरा करें। इस तरह परस्पर संभावना से दोनों का परम कल्याण होगा १२—यज्ञ से संभावित देव तुम्हें इष्ट भोगों को देंगे, उन के लिये हुए भोगों को उन्हीं को न सौंप कर जो भोगता है वह चोर है १३—यज्ञ शेष को जो खाते हैं वे सब पापों से मुक्त होते हैं और जो पापी केवल अपने लिये पकाते हैं वे केवल पाप को ही खाते हैं। १४—अन्नसे प्राणी

उत्पन्न होते हैं पर्जन्य से अन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य होता है. और यज्ञ होता है कर्मों से १५-कर्म चला है प्रकृति से प्रकृति हुई है परमेश्वर से इसी लिये यज्ञ में सर्वव्यापी ब्रह्मही सदा स्थित रहता है १६-इस प्रकार जगत् के उद्धार के हेतु चलाये हुए इस यज्ञ के चक्र को जो आगे नहीं चलाता, वह इन्द्रियलम्पट है, पापी है, उसका जीवन ही व्यर्थ है १७-जो सदा आत्मा में रत रहकर भीतर ही भीतर प्रसन्न रहता है, उसको बाहर कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं १८-बाहरके किसी कर्म के करने या न करनेसे उसका कुछ लाभ नहीं होता और उसका कोई काम अटका भी नहीं रहता १९-इसीलिये असक्त रहकर कर्म करो, जो असक्त रहकर कर्म करता है उसको परमात्मा के दर्शन होते हैं २०-देखो, जनकादि कर्मद्वारा ही सिद्धि को प्राप्त हुए, इसीप्रकार लोक संग्रह पर दृष्टि रखकर काम करो २१— लोकसंग्रह इस लिये कि श्रेष्ठ पुरुष जो जो करता है, जैसा जैसा करता है, लोग भी उसी के पीछे चलते हैं। वह जिसको प्रमाण मानता है लोगभी उसीको मानते हैं २२-देखो अर्जुन तीनों लोकों में मुझे कुछ करना शेष नहीं है। मुझे अप्राप्य भी कुछ नहीं है। तो भी कर्ममें लगाही हूं। २३-मैं सावधान होकर कर्मों में न लगा रहूं तो सब मेराही अनुकरण

करने लगें और २४-सब लोक मर्यादाहीन भ्रष्ट हाजायँ और सब प्रजा में संकरता फैलाने और उसको नष्ट करनेका दोषमुझे लगे २५-अज्ञानी लोग जैसे सक्त होकर कर्म करते रहते हैं ज्ञानी लोग उसी प्रकार नित्य असक्त रहकर कर्म करें जिस से लोकसंग्रह हो २६-ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि कम में लगे हुए लोगों में व्यर्थ का मतभेद न उत्पन्न करे,उनमें रहकर प्रीतिपूर्वक स्वयं कर्म करे और करावे २७-सच देखा जाय तो प्रकृति के गुण ही कर्म कराते रहतेहैं परन्तु मूढ़ अहंकारी यह समझ बैठता है कि मैं ही करता हूं २८-और गुण कर्म के तत्त्व को जानने वाला समझता है कि यह गुणों का खेल है और इसीलिये लिप्त नहीं होता २९-प्रकृति के गुणों से संमूढ़ लोग गुण कर्मों में आसक्त रहते हैं, बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि उन को विचलित न करे ३०-इसलिये हे अर्जुन! अध्यात्मदृष्टिसे सब कर्मों को मेरे अर्पण करके, फलाशा और ममता छोड़ कर युद्ध कर ३१-जो श्रद्धावान् पुरुष, एक निष्ठा से मेरी बात पर चलते हैं और उस में अविश्वास नहीं करते वे भी कर्मों से छूट जाते हैं ३२—और जो अविश्वास करके दोष देखते हैं अज्ञानी वे नष्ट हुए समझो ३३-ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार बर्तता है, प्राणीमात्र प्रकृति पर जाते हैं, केवल

ऊपरी निग्रह क्या कर लेगा? ३४-इन्द्रिय और विषयों रागद्वेष लगे ही रहते हैं, उनके वश में न आना चाहिये ये दोनों लुटेरे हैं, मनुष्य को मार्ग से च्युत करदेते हैं ३५—पराये धर्म को अच्छी तरह करने की अपेक्षा अपना धर्म अधूरा अच्छा. अपने धर्म में मरना अच्छा, पर धर्म ठीक करते नहीं बनता इसलिये भय देने वाला है।

अर्जुन

३६—४१　　३६–हे कृष्ण, इच्छा न रहते भी किसकी प्रेरणा से यह पुरुष विवश होकर पाप करता है?

कृष्ण

३७—४६　　३७–रजो गुण के पुत्र जिस को काम कहो या क्रोध कहा वही वैरी है, बड़ा पापी है इस का पेट बड़ा है ३८–जैसे धूएँ से अग्नि मलिन होजाता है। या मल से दर्पण, अथवा झिल्ली से गर्भ इसी प्रकार यह संसार इस काम से मलिन है। ढका हुआ है ३६–सदा अतृप्त रहने वाले अग्नि के सदृश इस काम रूपी नित्य वैरी ने समस्त ज्ञान को ढाँप रक्खा है ४०–इन्द्रिय, मन, बुद्धि तीन स्थानों में यह रहता है और इनके द्वारा सब पर काबू किये हुए हैं, और ज्ञान को ढाँप कर सब को मोह में डाले हुए हैं ४१–इसलिये सब से पूर्व इन्द्रियों का वश में करके काम रूपी ज्ञान वि-

ज्ञान के नाश करने वाले वैरी का नाश कर
४२-इन स्थूल पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रियाँ परे हैं। इन्द्रियों से परे है मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे है वह आत्मा ४३ इसलिये बुद्धि से परे स्थित आत्मा को पहिचान कर और अपने आप को वश में रखकर, इस विकट कामरूपी शत्रु को मार डालो --

(इति तृतीयोऽध्यायः)

—०—

चतुर्थोऽध्यायः

ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः ।

कृष्ण

—:०:—

१-यह अविनाशी योग मैंने सूर्य को बतलाया सूर्य ने मनु को मनु ने इक्ष्वाकु को इस प्रकार परम्परा से राजर्षि इस योग को जानते थे। पर, कालचक्र की गति से यह योग नष्ट हुआ वही पुरातन योग मैंने आज तुमको बतलाया है तू भक्त है मित्र है इसीलिये यह उत्तम रहस्य तुमको कहा है

अर्जुन

४ ४-आप का जन्म तो पीछे से हुआ और विवस्वान् बहुत पहले हुए, इस बात को मैं कैसे जान लूँ कि आपने विवस्वान् को उपदेश दिया

कृष्ण

५--४२ ५-मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो गये, मैं उन को जानता हूं, तू नहीं जानता।

६-मैं अज हूं, विकार रहित हूं, सब का स्वामी हूं तो भी अपनी प्रकृति के आश्रय को लेकर अपनीही मायासे उत्पन्न होता हूं ७-जब जब धर्म की हानि या ग्लानि होती है और अधर्म उभरता है तब तब मैं जन्म लेता हूं ८-साधु सज्जनों की रक्षाहो दुष्टों कानाशहो धर्मकी स्थापना हो इसलिये युग युगमें उत्पन्न होताहूं ९-इसप्रकार मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो जानताहै मृत्यु के पश्चात् फिर उसका जन्म नहीं होता १०-राग भय क्रोध को छोड़कर जिन्होंने मेरा आश्रय लिया ऐसे बहुतसे ज्ञानऔर तपसे पवित्र हुए लोग मुझमें आमिले हैं ११-जो मुझे जिसप्रकारसे भजतेहैं मैं भी उनको वैसाही फल देता हूं, चाहे किसी मार्ग में भ वे सब मेरे ही मार्ग में आमिलते हैं १२-कर्म की सिद्धि चाहने वाले देवताओं की पूजा करते हैं इसलिए कि कर्म का फल शीघ्रही यहां मिले १३-गुण कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र मैंने ही बनाये हैं मैं उनका कर्ता भी हूं और अविनाशी

अकर्ता भी हूं १४-न मुझे कर्म लपेट सकते हैं न मेरी कर्मफल में स्पृहा ही है जो मेरी इस बात को जानता है वह कर्मों से नहीं बांधा जाता १५-इसी तरह जो समझकर मोक्षाभिलाषी पूर्वजों ने भी कर्म किये हैं, जिन कर्मों को पूर्वजों ने पूर्व किया है उन्हीं को तू भी कर १६-कर्म क्या है, अकर्म क्या है इस को विद्वान् भी नहीं समझ सके हैं इसीलिये वह कर्म तुझ को बतलाता हूं जिस से तू अशुभ कर्मों से बचा रहे १७ कर्मों को जानना चाहिये, विकर्म भी जानने चाहिये और अकर्म भी कर्मों की गति गूढ है १८ जो कर्मों में अकर्म और अकर्मों में कर्म देखे वही सब से बुद्धिमान् है, वही समस्त कर्मों के करने वाला है १९-जो समस्त काम व संकल्पों का छोड़कर प्रारम्भ करता है और जिस ने ज्ञानरूपी अग्नि से कर्मों को जला डाला है वही पण्डित है २०-जो फल का संग छोड़कर अलिप्त और नित्यतृप्त रहता है वह कर्म में लगा हुआ भी कुछ नहीं करता २१-जिस ने फलाशा छोड़ी इन्द्रियों को वश में किया, समस्त सम्बन्ध छोड़ दिये, वह चाहे शरीर से कर्म करता रहे तो भी पाप का भागी नहीं होता २२-जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट रहने वाला सुख दुःख, रागद्वेष से पृथक् रह कर, सिद्धि असिद्धि में समान रहने वाला पुरुष कर्म करके भी बन्धन में नहीं आता

२३-जिस ने संग छोड़ दिया, जो राग द्वेष से मुक्त हुआ, जिस का चित्त ज्ञान में लगगया जो केवल यज्ञ के लिये ही कर्म करता रहता है उसके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं २४-हवन, हव्य, अग्नि सब ब्रह्म ही है और इस ब्रह्ममय कर्म से ब्रह्म ही को प्राप्त करना होता है २५-कोई देवताओं के उद्देश से यज्ञ करते हैं, कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ करते हैं अर्थात् भौतिक यज्ञ द्वारा यज्ञनामक परमात्मा को प्राप्त करते हैं २६-कोई संयमाग्नि में इन्द्रियों का होमकरतेहैं और कोई इन्द्रियाग्नि में विषयों का होम करते हैं २७ कोई ज्ञानदीप्त आत्म-संयमरूप अग्नि में सब इन्द्रियों और प्राणके कर्मों को स्वाहा करते हैं २८-कोई द्रव्ययज्ञ करते हैं कोई तपोयज्ञ, कोई योगयज्ञ और कोई स्वाध्याय यज्ञ करतेहैं और २९-यति लोग प्राणायाम करते हुए प्राणापान को रोककर प्राणमें अपान और अपानमें प्राणका यज्ञ करते हैं ३०-कोई नियत आहार वाले प्राणों को ही प्राणों में स्वाहा करते हैं ये सब यज्ञ के जानने वाले हैं और यज्ञ द्वारा इन के पाप नष्ट होते हैं ३१-यज्ञ से बचे हुए अमृत को खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और जो यज्ञ नहीं करते उनका न यह लोक ही सधता है न परलोक ३२-इस प्रकार ब्रह्म के मुख में अनेक यज्ञ होते रहतेहैं, उन सबको कर्म से ही साधा

जाता है, उन को जान लोगे तो मुक्त होगे ३३-इन द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि सब कर्मों की समाप्ति ज्ञान में ही होती है ३४-इस तत्व को जानना चाहो तो तत्व ज्ञानियों के पास जाकर सेवा शुश्रूषा, प्रश्नोत्तर, जिज्ञासा आदि से ज्ञान प्राप्त करो ३५-जिस को जानकर फिर तुम ऐसे मोह में न पड़ोगे और फिर तुम समस्त प्राणियों को मुझ में और अपने में देख सकोगे ३६-तू पापी से भी पापी हो तो भी ज्ञानरूपी नौका से सब पापों को पार कर जायगा ३७-जैसे प्रज्वलित अग्नि समस्त काष्ठों को भस्म कर डालती है इसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्म करती है ३८-ज्ञान के सदृश इस लोक में कुछ भी पवित्र नहीं है काल पाकर योगी स्वयं उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ३९-जो संयमी और श्रद्धावान् होकर ज्ञान के पीछे पड़ा रहता है उसको ज्ञान मिलता है, फिर ज्ञान से उसको परम शान्ति मिलती है ४०-परन्तु जिस में ज्ञान व श्रद्धा दोनों नहीं उसको न यह लोक न परलोक, न सुख न शान्ति ४१-हे अर्जुन जो योग में लगकर कर्मों को छोड़ बैठा ज्ञान के कारण जो संशयरहित होगया, उस आत्म ज्ञानी को कर्म नहीं बांध सकते ४२-इसलिये अज्ञान के कारण हृदयस्थित संशय को ज्ञान

रूपी तलवार से काटकर उठो और कर्मयोग का अनुष्ठान करो।

(इति चतुर्थोऽध्यायः)

पंचमोऽध्यायः

(संन्यासयोगः)

अर्जुन।

१— १—आप कभी संन्यास को और कभी कर्मयोग को अच्छा बतलाते हो, इन दोनों में कौनसा अधिक अच्छा है इसको निश्चय पूर्वक बतलाओ—

कृष्ण।

२-२६ २-दोनों कल्याणकारी हैं पर संन्याससे कर्मयोग विशेष है ३-जो रागद्वेषोंसे परे रहता है, निर्द्व-न्द्व रहता है वह सदाही संन्यासी है, वह सुल-भता से ही कर्मबन्धन से छूट जाता है ४-जो सांख्य और योगको पृथक् बतलाते हैं वे अज्ञानी हैं दोनों में से किसी एकका अनुष्ठान करने से दोनोंके करनेका फल मिलता है ५-सांख्यों को जो पद मिलता है वही कर्मयोगियों को भी, जो दोनों को एक ही समझता है वही सत्यज्ञानी है ६-कर्म के बिना संन्यास ठीक नहीं बन सकता है, कठिन है, जो कर्मयोग युक्त हुआ उसको ब्रह्म शीघ्र मिलाहो जानो ७-जो विशुद्ध है, जितेन्द्रिय

और बुद्धि द्वारा उसीमें लगे हुए ज्ञानी निष्पाप होकर फिर जन्म मरणके बन्धनमें नहीं आते १८-विद्या व विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान, चाण्डाल इनमें समदर्शी पण्डितकी एकसी बुद्धि रहती है; १९-जिनका मन समतोल रहा उन्होंने मानो स्वर्गको यहीं नीचा दिखा दिया ब्रह्म स्वयं निर्दोष व सम है इसलिये सम बुद्धि वाले ब्रह्ममें स्थित रहते हैं २०-जो ब्रह्ममें स्थित रहता है वह न शुभ से हर्षित होता है न अशुभसे घबराता है क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर रहती है २१-बाह्य पदार्थोंमें असक्त हुआ भीतरही भीतर जिस सुख का अनुभव करता है वही ब्रह्म प्राप्तिका अक्षय सुख है २२-जो बाह्य पदार्थोंके भोग हैं वे दुःखके कारण हैं, आदि अन्त वाले हैं, बुद्धिमान् पुरुष उसमें नहीं फँसते २३-जो इसी लोकमें शरीर छूटनेके पूर्व काम क्रोधके वेगोंको रोक सकते हैं वही युक्त और वही सुखी हैं।

२४-इस प्रकार जिसको भीतरही भीतर सुख और आराम मिलनेके कारण भीतरी ज्योतिका प्रकाश हो वह ब्रह्म में मिलकर ब्रह्मही होजाता है २५-जो सब प्राणियोंके हितमें रत रहतेहैं, जिनका द्वैत नष्ट हो चुका है जिन्होंने आपेको वशमें रक्खा है वे ऋषि निष्पाप होकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं २६-काम क्रोध रहित यतियोंको जो कि आत्मतत्व तक पहुंच चुके हैं, चहुं ओर बैठे बिठाये मोक्ष मिलता है २७-जो बाह्य स्पर्शोंको छोड़कर, दोनों

भौंहोंके बीचमें दृष्टि रखकर, प्राण और अपानको समान रख कर २८-मन, इन्द्रिय, बुद्धि को वश में रखता हुआ, इच्छा, भय क्रोध से रहित होता है वह सदा मुक्तही है २९-जो मुझको समस्त यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सब लोकों का बड़ा स्वामी, सब प्राणियों का मित्र समझ कर वर्तता है वह शान्तिको प्राप्त करता है—

(इति पञ्चमोऽध्यायः)

षष्ठोऽध्यायः

(ध्यान योगः)

कृष्ण

१-३२ १-फलका सहारा न लेकर जो अपने कर्त्तव्य कर्म को किये जाता है वही संन्यासी है और वही योगी न कि अग्निहोत्रादि कर्मोंको छोड़ने वाला अथवा खाली बैठने वाला २-जिसको संन्यास कहते हैं वही तो कर्मयोग है, संकल्पों का संन्यास किये बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता ३-कर्मयोग की सीढ़ी चढ़ने वाले मुनिके लिये कर्म शमका कारण होता है, जब वह भली भांति योगारूढ़ हो गया तब शम कर्मका कारण बनजाता है, ४-जिसने समस्त संकल्पोंको छोड़ दिया है जिसकी इन्द्रियें विषय और कर्मोंमें आसक्त नहीं होती उसी पुरुष को योगारूढ़ कहते हैं ५-मनुष्यको चाहिये कि अपना उद्धार अपने आप करे मनुष्य स्वयंही अ-

पना बन्धु है, स्वयंही अपना शत्रु है ६-जिसने अपने आपको जीत लिया वह स्वयं अपना बन्धु है परन्तु जो आपे को नहीं समझा वह स्वयं अपना शत्रु है ७-जिसने अपनेको वश में रक्खा है, जो शान्त रहता है, उसके लिये शीत, उष्ण, सुख दुःख, मान, अपमान में परमात्मा स्थिर रहते हैं ८-जो ज्ञान विज्ञान में तृप्त रहता है जितेन्द्रिय है अविचलितहै, जो लोहा व सुवर्णको समान समझे ऐसा पुरुषही युक्त अर्थात् पहुंचा हुआ कहा जाता है ९-जिसकी सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु साधु और पापी इन सबमें समबुद्धि रहती है वही विशिष्ट पुरुष है १०-योगीको चाहिये कि वह सदा अकेला एकान्त में रहकर सदा योग करे, समस्त संकल्प व परिग्रह = संबन्धों को छोड़कर चित्तको वशमें रक्खे ११-शुद्ध पवित्र देशमें जहां ऊँचा हो न नीचा हो दर्भ पर मृगछाला बिछाकर आसन जमावे १२-इन्द्रियों को वश में करके आत्मा मन को एकाग्र करे, जिससे आत्मशुद्धि के लिये योग लगे १३-उस समय शरीर, ग्रीवा और शिर को तोल कर ठीक रक्खे, इधर उधर न देखकर नासिका के अग्रभाग में ध्यान रक्खे, १४- इस प्रकार ब्रह्मचर्य युक्त रहता हुआ, शान्त, स्थिर, निर्भय होकर एकाग्र चित्त से मुझ में लगजाय १५-जो इस प्रकार नित्य लगा रहता है वह मेरे स्वरूप में पहुंचानेवाली शान्ति को प्राप्त कर

लेता है १६-खूब खानेवाले या सर्वथा भूखे मरने वाले से योग नहीं बन सकता, और न बहुत सोने वाले से १७-जो खान पान शयन आदि में युक्त अर्थात् उचित संयम रक्खेगा उसीका योग दुःख को हटाने वाला होगा १८-जब वश में किया हुआ चित्त आत्मा में रत रहता है और जब पुरुष सब काम व संकल्पों से निःस्पृह बन जाता है तभी योगी कहाता है १९-जैसे निर्वात प्रदेशमें दीपक की ज्योति निश्चल रहती है योग में लगे हुए योगी के चित्त की दशा ठीक वैसी ही समझो २०-जहां कि योग के सेवन से चित्त रुका रहता है और भीतर ही भीतर आत्मदर्शन से प्रसन्न रहता है २१- जहाँ इन्द्रियों की पहुंच नहीं जो सुख केवल बुद्धिगम्य है, और जिसको पाकर फिर योगी विचलित नहीं होता २२-और उस सुख को प्राप्तकर फिर उससे अधिक किसी को नहीं समझता और जहां से उस योगी को कोई डिगा नहीं सकता २३-इसी स्थिति को दुःख संयोग से वियोग करने वाला योग को समझो, मन को लगाकर उसी योगको करते रहना चाहिये २४-संकल्प से उत्पन्न होने वाले समस्त कामों को छोड़कर मन से इन्द्रियों को वश में लाकर योग करता रहे।

२५-धीरे २ निश्चयात्मक बुद्धि करके विषयों से हटता जाय, इसके २ जब मन आत्मा में लीन होने लगे तब सोचना भी छोड़देवे २६-चञ्चल

मन जिधर २ से हटता जाय उधर २ से वश में रक्खे, फिर धीरे २ वश में रखकर आत्मा में लगावे २७-इस प्रकार शान्तचित्त रजोगुण रहित, निष्पाप ब्रह्मभूत योगी को अनुत्तम सुख मिलता है २८-इस प्रकार करता हुआ योगी निष्पाप होकर ब्रह्मानंद के अनुपम सुख को प्राप्त करलेता है २९-ऐसा योगी समदर्शी होकर अपने में सबको और सब में अपने को देखने लगता है ३०-जो मुझे सर्वत्र देखता है और मुझ में सब कुछ देखता है न वह मुझसे पृथक् और न मैं उससे दूर हूं ३१-समस्त प्राणियों में स्थित मुझको जो अनन्य भाव से भजता है वह बाह्य कर्मों में लगा हुआ भी मुझ में ही रहता है ३२-जो अपने समान ही सुख दुःख की भावना अन्यों में करता है वही योगी श्रेष्ठ है।

अर्जुन।

३३-३४

३३-हे कृष्ण, आपने यह जो समबुद्धि का योग बतलाया, वह तो मुझ में चञ्चल मनके कारण स्थिर नहीं रहेगा, ३४-यह मन चंचल, हठी, बलवाला व दृढ़ है। वायु के रोकने के सदृश इसके वेग को रोकना भी कठिन है—

कृष्ण।

३५-३६

३५-तुम ठीक कहते हो, मन ऐसा ही है पर अभ्यास व वैराग्यसे वशमें आसकता है ३६-जिसने आपे को वश में नहीं किया उसको योग कठि-

नता से मिलेगा परन्तु जिसने वश में किया वह सहज ही में उपायोंद्वारा योग को प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन।

३७-३९   ३७-जो विचलित हुआ किंतु श्रद्धावाला है वह योगसिद्धि कौन प्राप्तकर किस गति को पहुंचता है ३८-कहीं बिखरे हुए बादल की तरह उभयभ्रष्ट होकर इधर उधर भटकता तो नहीं फिरता ३९-इस संशय को आप दूर कीजिये. आपसे बढ़कर सन्देह मिटानेवाला और कौन होगा ?

कृष्ण

४०-४७   ४०-ऐसे पुरुष का न इस लोक में न पर लोक में नाश होसकता है, कल्याणकारक कर्म करने वाले पुरुष की दुर्गति कभी नहीं होती ४१-ऐसा पुरुष पुण्य लोकों में जाता है वहाँ चिरकाल तक रहता है और पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेता है ४२-अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही आता है। ऐसा जन्म कठिनता से मिलता है ४३-वहां पूर्व जन्म के संस्कार उदय होते हैं और फिर वह सिद्धिमें यत्न करने लगता है ४४-पूर्व जन्म के अभ्यास से ही वह विवश होकर ऊपर खिंच जाता है और जो योग का जिज्ञासु है वह भी शब्द ब्रह्म से परे पहुंचता है ४५-इस प्रकार प्रयत्न द्वारा

निष्पाप होता हुआ अनेक जन्म में सिद्धि प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है—४६-तपस्वियों ज्ञानियों से और कर्मियों से भी योगी अच्छा है, इसलिये कर्मयोगी बनो ४७-योगियों में भी वह श्रेष्ठ है जो शुद्ध अन्तःकरण से श्रद्धा पूर्वक मुझको भजता है।

(इति ध्यान योगः)

सप्तमोऽध्यायः

(ज्ञानविज्ञान योगः)

कृष्ण।

१-३० १-मुझ में चित्त लगाकर योग करता हुआ निश्चय पूर्वक मुझको पूर्णरूप से जिस प्रकार जान सकता है वह उपाय सुन २- मैं तुझको सारा ही ज्ञान विज्ञान बतलाता हूं जिसको जानकर संसार में जानने योग्य कुछ भी न रह जायगा ३-सहस्रों मनुष्योंमें कोई एकाध सिद्धि के लिये यत्न करता है और यत्न करने वाले सिद्ध पुरुषों में भी एकाध ही को सच्चा ज्ञान होता है ४-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये मेरी आठ प्रकार की प्रकृति है ५-जिसको अपरा कहते हैं, अब परा को समझो जिससे जगत् का धारण होता है और जीव स्वरूप वाली है ६-इन्हीं दोनों

प्रकृतियों से सब प्राणी होते हैं, मैं ही सब जगत् का कर्त्ता व संहर्त्ता हूं ७-मेरे परे कुछ नहीं है और मुझ में ही सब मणि में सूत्र की भाँति परोया हुआ है ८-जल में मैं रस, और सूर्य चन्द्र में प्रभा, वेदों में प्रणव, अर्थात् ओ३म् आकाश में शब्द नरों में पुरुषार्थ मैं ही हूं ९-पृथिवी में शुभ गन्ध, अग्नि में तेज, सारे भूतों में जीवन, तपस्वियों में तप मैं ही हूं १०-मुझे सबसे पुरातन बीज समझो, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज मैं ही हूँ ११-काम और राग के बल को छोड़कर, बलवालों का अन्यबल और प्राणियों में धर्मानुकूल वासना मैं ही हूँ १२-जितने सात्त्विक और जो राजस तामस पदार्थ हैं वे सब मुझ से ही हुए हैं, मैं उनमें नहीं हूं वे ही मुझमें हैं १३-इन त्रिगुणयुक्त भावों ने संसार को मोह रक्खा है, इसीलिये इनसे परे स्थिर अविनाशी मुझको यह संसार नहीं जानता १४-इस मेरी गुणमयी दैवी माया को पार करना कठिन है, जो मेरी शरणमें आते हैं वे पार करजाते हैं १५-माया से ज्ञान के नष्ट होने के कारण, आसुरी वृत्तिमें पड़े हुए पापी नराधम मुझको नहीं पासकते १६-चार प्रकार के पुण्यात्मा मुझको भजते रहते हैं १-रोगी, २-जिज्ञासु, ३-द्रव्यकी कामना करनेवाला ४ ज्ञानी, १७-इनमें से मेरी ही एक भक्ति करने वाला, सदा मुझमें लगा हुआ ज्ञानी मुझको प्यारा है और उसको मैं प्यारा हूँ क्योंकि उसको

योग्यता विशेष है १८-हैं तो ये सभी चारों अच्छे किन्तु ज्ञानी मेरी आत्मा है क्योंकि वह मेरी अनुत्तम गति में स्थित रहता है १९-अनेक जन्मों में ज्ञानी मुझे प्राप्त कर लेता है, जो मुझे ही सब कुछ समझे ऐसा महात्मा कोई विरलाही होता है २०-अपनी अपनी वासनाओं से भटके हुए, अपनी अपनी प्रकृतिसे बंधेहुए, उन उन भिन्न नियमों में लगकर अन्य देवताओं को पूजते हैं २१-जो जो मेरे जिस जिस रूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है उसकी उसीमें अचल श्रद्धा कर देता हूं २२-उस श्रद्धा से वह उसी को पूजता है और मेरे ही निर्माण किये हुए फलों को प्राप्त करलेता है २३-उन अल्पबुद्धिवालों का यह फल नाशवान् होता है, देवताओं को पूजनेवाले उनके पास जाते हैं और भक्त मेरे पास आते हैं २४-छोटी बुद्धि वाले लोग मुझको श्रेष्ठ, अविनाशी न जानकर, अव्यक्त ही को व्यक्त हुआ समझते हैं २५-अपनी योगमाया से ढके रहने के कारण सब मुझको देख नहीं सकते, मोह में पड़े हुए लोग मुझको अजन्मा और अविनाशी नहीं समझते—२६-हे अर्जुन! मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्य को जानता हूं पर मुझको कोई नहीं जानता २७-क्योंकि इच्छा द्वेष के कारण उत्पन्न हुए सुख दुःखादि में फंसकर मूढ़ बनजाते हैं २८-परन्तु जिनके पाप समाप्त हुए ऐसे पुण्यात्माओं का द्वन्द्वमोह नष्ट होता है और वे फिर दृढ़ होकर

मुझको ही भजते हैं २९-जन्म मरण जरा व्याधि से छूटने के लिये वे मेरा ही आश्रय लेते हैं और सब ब्रह्म, अध्यात्म, और कर्म को जान लेते हैं ३०-जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझको जानलेते हैं, वे मुझमें लगन होने के कारण मरण समय में भी मुझको जानते रहतेहैं—

(इति ज्ञानविज्ञानयोगः)

अष्टमोऽध्यायः

(अक्षरब्रह्मयोगः)

अर्जुन

१—२ १-वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म कर्म, अधिभूत और अधिदैवत किसको कहते हैं २-अधियज्ञ कैसा होता है? इस शरीरमें कौन रहता है? और अन्तकाल में आपको जानने का क्या प्रकार है?

कृष्ण—

३—२८ ३-अविनाशी तत्त्व 'ब्रह्म' को कहते हैं, स्वभाव ही अध्यात्म है, चराचर को उत्पन्न करने वाला सृष्टिका व्यापार ही 'कर्म' है ४-प्राणियों की नाशवान् स्थिति का नाम है 'अधिभूत' शरीर का सचेतन अधिष्ठाता पुरुष है अधियज्ञ हूं मैं और मैं ही हे नरश्रेष्ठ इस देहमें हूं और 'अधिदैव' कहाता हूं ५-अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए जो देह त्यागता है वह मुझही में जो आ मिलता है ६-और जन्मभर जिसभाव में लगा रहा अन्तमें उसीभाव में आ मिलता

है ७-इसीलिये मुझमें ही मन बुद्धि को अर्पण करके सदा मेराही स्मरण करता हुआ युद्ध कर और तुम मुझमें ही आमिलोगे ८-हे अर्जुन अभ्यास वाले चित्त से, अनन्यभाव से जो ध्यान करता है वह उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है ९-जो कवि, पुराण, सबका शास्ता, अणु से अणु, सबका धाता, प्रकाश स्वरूप एवं अचिन्त्यरूप है और तम से पर स्थित है उसी में जामिलता है १०-प्रयाण काले जो पुरुष अचंल मन, भक्ति और योग बलसे भौंहों के मध्य प्राण रखकर ध्यान करते हैं वे उसी परम पुरुष को पाते हैं ११-जिसको वेदज्ञ अक्षर=अविनाशी कहते हैं, यतिलोग जिसमें जा मिलते हैं और जिसकी इच्छासे ब्रह्मचर्य धारण करते हैं वही पद मैं तुझको बतलाऊंगा १२-बाह्य द्वारों को बन्द करके मन को हृदय में रोक कर, प्राणको मस्तक में चढ़ाकर योग द्वारा १३-ॐ इस अक्षर को जपता हुआ और मुझको स्मरण करता हुआ जो पुरुष देह छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त होता है १४-जो योगी अनन्य-भावसे मुझको सदा स्मरण करता है उसको मैं सुलभता से मिलता हूं १५-मेरे पास आ-कर फिर यह असार, दुःख का घर पुनर्जन्म नहीं मिलता, वे परमसिद्धि को पाजाते हैं १६-ब्रह्मलोक तक जो स्वर्ग आदि लोक हैं उनसे

फिर जन्म होता है मुझमें आ मिलने पर पुनर्जन्म कहाँ १७-दिनरात के तत्त्व को जानने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि चार युगों का एक महायुग होता है और ऐसे हज़ार युगों को मिलाकर "ब्राह्मदिन" होता है, उतनी ही ब्राह्मरात्रि होती है १८-जब दिन होता है तब सब अव्यक्त से व्यक्त होता है और रात्रिके आतेही यह व्यक्त अव्यक्त में जा मिलता है १६—वही प्राणियों का संघ बार बार होकर रात्रि के समय बार बार नष्ट हो जाता है, दिन होने पर फिर होजाताहै२०—परन्तु इस अव्यक्त से परे एक और सनातन अव्यक्त है जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता २१-उसी को 'अक्षर' कहते हैं, जो परम गति है और जिसको प्राप्त कर फिर लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा भी धाम है २२-जिसमें सब प्राणी हैं और जिसने सबको व्याप्त कर रक्खा है वही पर पुरुष तुझको अनन्यभक्ति से मिल सकता है।

२३-जिस समय मरने पर योगी को लौटना पड़ता है और जिस समय मरने पर नहीं लौटना पड़ता वह समय बतलाता हूँ २४-अग्नि, ज्वाला दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने इन में शरीर छोड़नेवाला ब्रह्मवित् फिर नहीं लौटता २५-धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः महीने; इनमें मरा हुआ योगी चन्द्रलोक में

जाकर पुण्यों के घटने पर फिर इस लोक में लौट आता है २६-इस प्रकार संसार में शुक्ल और कृष्ण गति लगी ही रहती है, शुक्लसे नहीं लौटता कृष्ण से लौटना पड़ता है २७-जो इन दो मार्गों के तत्व को जानता है वह योगी मोह में नहीं फँसता, इसी लिये हे अर्जुन तुम सदा योगी अथवा कर्म योगी बनो २८-वेदों के अध्ययन में, तप में, दान में जो पुण्य कहा है, योगी उन पुण्यों से पार होजाता है जो उस आदि स्थान अर्थात् परम दिव्य पुरुष को प्राप्त करलेता है—

(इति अक्षरब्रह्मयोगः)

नवमोऽध्यायः

(राजविद्याराजगुह्य-योगः)

कृष्ण—

१-३४ १-अब मैं तुझको विज्ञान सहित अत्यन्त गुह्यज्ञान बतलाता हूं जिसको जानकर तू अशुभ से छूट जायेगा, इसलिये बतलाताहूं कि तू भक्त है, असूयक नहीं है २-यह ज्ञान सब विद्याओं और गुह्यों का राजा है, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्षबोध देनेवाला, नाशरहित और धर्म के लिये हितकर और आचरण के लिये सुखकर है ३-जो इस धर्म पर श्रद्धा नहीं करते वे मुझ को न पाकर भवबन्धा में आपड़ते हैं ४-अव्यक्त मैंने ही इस सृष्टि का विस्तार किया है, सब

प्राणी मुझ में ही हैं, मैं उनमें नहीं हूं ५-और एक प्रकार से वे भूत मुझमें भी नहीं हैं मेरे योगसामर्थ्य को तो देख, मैं ही उत्पन्न तथा धारण करानेवाला और मैं ही उन में नहीं हूं ६-जिस प्रकार सर्वत्र बहने वाली वायु सदा आकाश में रहती है, उसी प्रकार सब प्राणी मुझ में रहते हैं ऐसा समझो ७-जब कल्पक्षय होता है तब सब मेरी प्रकृति में लीन होजाते हैं और कल्प के आदि में मैं फिर उनको उत्पन्न करता हूं ८-मैं अपनी प्रकृति को वश में रखकर बार २ सृष्टि को उत्पन्न करता हूं, क्योंकि प्रकृति स्वयं कुछ नहीं करसकती ९-उदासीन व उनकर्मों में असक्त रहने वाले मुझको वे कर्म नहीं बाँध सकते १०-मेरे अधिष्ठातृपद में प्रकृति चर और अचरको उत्पन्न करती है, यही कारण है कि यह परिवर्त्तन होता रहता है ११-मेरे परम स्वरूप को न समझकर, और मुझे सब प्राणियों का बड़ा स्वामी न जानकर, मूढ़ लोग मुझको शरीरधारी साधारण पुरुष समझते हैं १२-उनकी आशा कर्म, ज्ञान सब व्यर्थ रहता है क्योंकि वे मोह में डालनेवाली आसुरी प्रकृति का आश्रय लिये रहते हैं १३-और दैवी प्रकृति का आश्रय लिये हुए महात्मा लोग अनन्य मनसे मेरा भजन करते हैं जो कि मैं अव्यय हूं सबका आदि स्थान हूं १४-दृढ़व्रत वे सदा यत्न करते हुए मेरा ही कीर्त्तन करते रहते हैं, मुझे ही नमस्कार

किया करते हैं १५-कोई कोई ज्ञानयज्ञद्वारा कभी एक रूप मानकर कभी भिन्न रूप मानकर स्वयं तो मुझ मेरी उपासना किया करते हैं १६-मैं ही कर्म, मैं ही यज्ञ हूं अन्न, औषध, मन्त्र, आज्य, अग्नि, आहुति सब मैं ही हूं १७-इस जगत् की माता, धाता, पिता मैं ही हूं, जानने योग्य पवित्र ॐकार और चारों वेद मैं ही हूं १८--इस जगत् की गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, निधान, और अविनाशी बीज मैं ही हूं १९-मैं ही संसार को गरमाता हूं, वर्षा को रोकता व बरसाता हूं, अमृत व मृत्यु, सत् और असत् मैं ही तो हूं २०--तीनों वेदों के जाननेवाले, पुण्यात्मा, सोमप (सोमयागी) यज्ञों द्वारा स्वर्ग की चाहना करते हैं, वे पुण्य सुरेन्द्र लोक में जाकर दिव्य भोगों को भोगते हैं २१--जब भोग भुगत चुकते हैं तब वे फिर इस मर्त्यलोक में आते हैं, इस प्रकार कर्मकाण्ड में लगे हुए लोग जन्म मरण के बन्धन में आजाते हैं २२-जो अनन्य भाव से सदा मेरे ही ध्यान में लगे रहते हैं उन के योगक्षेम-निर्वाह को मैं ही चलाता हूं २३-मैं ही सर्व यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं--इस तत्व को नहीं जानते इसीलिये वे गिरते हैं २४-देवता के व्रतवाले देवताओं के पास, पितरों को चाहने वाले पितरों के पास, प्राणियों के लिये यज्ञ करने वाले प्राणियों को, और मेरे लिये यज्ञ

करनेवाले मेरे पास आते हैं २५-जो वशीं भक्ति पूर्वक पत्र, पुष्प फल, जल देते हैं मैं उसको सेवन करलेता हूं-चाहे क्षुद्र से क्षुद्र वस्तु हो पर हो भक्तिपूर्वक दी हुई-२६-देखो, जो करो, जो खाओ, जो हवन करो; जो द्रो और जो तपो वह सब मेरे अर्पण करो, २८-फिर शुभाशुभ फलवाले कर्म बन्धनों से छूटकर, संन्यास योग युक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगे-२९-मैं सबके लिये एकसा हूं, न कोई मुझे प्रिय न कोई मेरा शत्रु, जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूं ३०-यदि दुराचारी, दुष्ट भी अनन्यभाव से मेरी भक्ति करता है तो वह साधु ही है क्योंकि वह ठीक मार्ग पर पड़ा हुआ है ३१-वह शीघ्र ही धर्मात्मा होजाता है, शाश्वत शान्ति को प्राप्त करताहै, इस बात को तुम निश्चय जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होसकता ३२-मेरा आश्रय लेकर, पापी से पापी पुरुष, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र ये सभी परम गति को प्राप्त करलेते हैं ३३ पुण्य ब्राह्मण और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या है, इसलिये अनित्य और दुःखदायी इस संसार को छोड़ कर मेरा भजन कर ३४-मुझ में ही ध्यान रक्खो, मेरे ही भक्त बने रहो, मेरे लिये ही यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार मत्परायण होकर कर्मयोगी बनोगे तो मुझमें ही आमिलोगे—

(इति राजविद्याराजगुह्ययोगः)

दशमोऽध्यायः

(विभूतियोगः)

कृष्ण

१-११

१-प्रिय तुझ को हितबुद्धि से जो परम तत्व कहने लगा हूं, उसको हे महाबाहो, फिर सुनो २-सुर और महर्षि मुझे नहीं जानते क्योंकि सुर और महर्षियों का मैं आदि हूं ३-जो मुझ को अजन्मा अनादि सब लोकों का बड़ा स्वामी जानते हैं वे मोहबन्धन और सब पापों से छूट जाते हैं ४-बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भाव, अभाव, भय, अभय, ५-अहिंसा समता, तुष्टि तप, दान, यश, अयश आदि प्राणि मात्र के भाव मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं ६-सात महर्षि, उन के पूर्व चार और मनु मेरे ही मन से उत्पन्न हुए हैं जिन से कि यह प्रजाएँ हुई हैं ७-मेरी इस विभूति व योगको जो यथार्थ रूप में जान लेता है निःसंशय वह स्थिरयोग को प्राप्त होताहै ८-मैं ही सब का उत्पत्ति स्थान हूं मुझ ही से यह सब चला है, इसी भाव को लेकर बुद्धिमान् मुझे भजते रहते हैं ९-मुझ [illegible] और प्राण लगाये हुए मेरे ही [illegible] में [illegible] ज्ञाते और कहते सुनते हुए [illegible] [illegible]

हैं १०-जो इस प्रकार सतत प्रीतिपूर्वक मुझ में लगे रहते हैं उन को मैं बुद्धियोग देता रहता हूं जिस से मुझ तक पहुंचें ११-उन पर दया करने के लिये भीतरी प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक से मैं उन के अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देता हूं।

अर्जुन

१२-१८

१२-१३-सब ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवल व्यास आदि और आप स्वयं भी अपने आप को परम ब्रह्म, परम धाम अत्यन्त पवित्रस्वरूप, अज विभु, शाश्वत दिव्य पुरुष कहते हो १४-यह सब कुछ मैं सत्य मानता हूं, देव और दानव तुम्हारे मूलस्वरूप को नहीं जानते १५-हे भूतभावन, भूतेश, देवदेव जगत्पते पुरुषोत्तम! तुम आप ही अपने आप को जानते हो १६-इसलिये जिन विभूतियों से व्याप्त होकर इन लोकों में विद्यमान हो उन सब अपनी विभूतियों को कहिये तो सही १७-आप का सदा ध्यान करता हुआ आप को कैसे जानूं और किन किन पदार्थों में ध्यान करूँ? १८-सो अपनी विभूति और योग को फिर विस्तारपूर्वक कहो, आप की बातें सुनते हुये मेरी तृप्ति नहीं होती।

कृष्ण

१९-४२

१९-मेरे विस्तार का अन्त नहीं है, इसलिये मुख्य मुख्य दिव्य विभूतियों को बतलाता हूं २०-हे अर्जुन! मैं समस्त प्राणियों के भीतर की आत्मा हूं

और सब का आदि मध्य और अन्त मैं ही हूं २१-आदित्यों में विष्णु, तेजस्वियों में किरणवाला सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्रमा २२वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और भूतों में चेतना २३-रुद्रों में शंकर, यक्ष राक्षसों में कुवेर वसुओं में अग्नि और पर्वतों में मेरु २४-पुरोहितों का मुख्य बृहस्पति, सेनापतियों का मुख्य कार्त्तिकेय जलाशयों में सागर, २५-महर्षियों में भृगु, वाणी में ॐ, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमालय २६-वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्ध मुनियों में कपिल २७-अश्वों में उच्चैःश्रवा जो कि अमृत मन्थन के समय उत्पन्न हुआ, गजेन्द्रों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा २८-आयुधों में वज्र, धेनुओं में कामधेनु, प्रजोत्पादक कामदेव, सर्पों में वासुकि, २९-नागों में अनन्त, जलचरों में वरुण पितरों में अर्यमा, संयमवालों का यम ३०-दैत्यों में प्रह्लाद, ग्रसनेवालों में काल, मृगों में मृगेन्द्र, पक्षियों में गरुड़ ३१-वेगवालों में वायु, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर, नदियों में भागीरथी ३२-सृष्टि का आदि मध्य और अन्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या वादियों का वाद, ३३-अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व, अक्षयकाल और ब्रह्मा ३४-सब को हरने वाला मृत्यु, भविष्य में होनेवालों का उत्पत्ति स्थान और स्त्रियों में कीर्त्ति, श्री, वाक् स्मृति मेधा, धृति, क्षमा ३५-सामवेद में बृहत्साम, छन्दों

में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष (अगहन) ऋतुओं में वसन्त ३६-छलनेवालों में द्यूत, तेजस्वियों का तेज, जय, व्यवसाय, सत्त्वशीलों का सत्व ३७-यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार्य ३८-दमन कारियों का दण्ड, जीतनेवालों की नीति, गुह्योंमें मौन, ज्ञानियों का ज्ञान ३९-सब भूतों का बीज यह सब मैं ही हूं;मुझ को छोड़कर चर अचर में कुछ भी नहीं है ४०-मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, केवल यह दिग्दर्शन मात्र है ४१-जो जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी और प्रभाव से युक्त है वह वह मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुई है ऐसा जानो ४२-अथवा बहुत कथन से क्या, मैं अपने एक ही अंश से इस जगत् को व्याप्त किये बैठा हूं—

(इति विभूतियोगः)

एकादशोऽध्यायः

(विश्वरूपदर्शनयोगः)

अर्जुन ।

१—४ १—मेरे ऊपर अनुग्रह कर आपने यह जो परम गुह्य अध्यात्म बतलाया उस से मेरा मोह जाता रहा—२—हे कमलपत्राक्ष, आपसे प्राणियोंकी सृष्टि, संहार और आपका अक्षय माहात्म्य जान लिया ३-आपने जैसा वर्णन किया है वैसा आप

का स्वरूप देखना चाहता हूं ४—यदि मेरा देखना संभव मानते हो तो हे योगेश्वर अपने अविनाशी स्वरूप को दिखाइये—

कृष्ण ।

५—८ ५-हे पार्थ नाना प्रकार के नाना वर्ण वाले मेरे सहस्रों दिव्यरूपों को देख ६-आदित्य १२ वसु,८ रुद्र,११ अश्विनीकुमार और बहुत से आश्चर्य देख ७-यहाँ मेरे इस शरीर में चर और अचर और जो कुछ देखना चाहे देख ८—परन्तु इन भौतिक आँखों से देख नहीं सकता, इसलिये दिव्यचक्षु देता हूं जिसे मेरा योगसामर्थ्य देख सको।

संजय ।

९—१४ ९-ऐसा कहकर योगिराज कृष्णने अर्जुन को विश्वरूप दिखाया १०-उस विश्वरूप में अनेक चक्षु अनेक मुख, अनेक दिव्य भूषण और अनेक दिव्य सज्जित आयुध थे, एक अद्भुतरूप था ११-उस अनन्त, सर्वतो मुख और आश्चर्यमय देवता में दिव्य सुगन्धित उबटन लगा हुआ था, उसने दिव्य पुष्प और वस्त्र धारण किये हुए थे १२-ऐसी विचित्र ज्योति थी कि यदि सहस्र सूर्य एकदम उदय होजायँ तो भी उस ज्योति को नहीं पासकते १३-अर्जुन ने उसी एक महादेव के शरीर में समस्त अनेक प्रकार से बँटा हुआ देखा १४-और विस्मय के कारण उसके रोमाञ्च खड़े होगये और उसने देव को शिर से प्रणाम कर के कहा—

अर्जुन ।

१५—३१ १५-हे देव तेरे शरीर में मैं समस्त प्राणियों के संघ, कमलासन ब्रह्मा, समस्त ऋषि और वासुकि प्रभृति सब दिव्य सर्पों को देखता हूं १६-अनेक बाहु, उदर, नेत्र, मुख वाले तेरे अनन्त रूप को देख रहा हूं, नहीं ज्ञात होता कि तेरा आदि मध्य और अन्त कहाँ है १७-तेरे रूपको समझना ही कठिन है, मुकुट है, गदा है, चक्र है, चहुं ओरसे देदीप्यमान तेज का पुञ्ज है जो कि दीप्त अग्नि अथवा सूर्य के सदृश देखना ही कठिन है १८-मैं जानता हूं कि तू ही परम अक्षर, परम निधान है अविनाशी, शाश्वत धर्म के रक्षक सनातन पुरुष है १९-तुम्हारे आदि मध्य अन्त का पता नहीं, अनन्त बाहु वाले हो, सूर्यचन्द्र ही तुम्हारे नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि ही आपका मुख है, अपने तेज से ही समस्त जगत् को तपा रहे हो। २०-द्यौ और पृथ्वी के मध्य में सब दिशाओं को अकेले आप ही ने घेर रक्खा है इस आपके अद्भुतरूपको देखकर तीनोंलोक घबरा उठे है२१-ये देखो देवों के संघ तुममें प्रवेश कर रहे हैं, कोई भयसे हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं महर्षि और सिद्धों के जमघट स्वस्ति स्वस्ति कहकर अनेक स्तोत्रों से स्तवन कररहे हैं २२-रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यदेव, अश्विनीकुमार, मरुत और पितर सभी चकित होकर आपकी ओर निहार रहे हैं २३-अनेक बाहु, उदर, नेत्र, मुख, पैर वाला यह वि-

करालरूप देखकर जगत् घबरा रहा है २४ गगन स्पर्शी, मुख बाये हुए, दिव्य विशाल नेत्र युक्त इस विचित्र रूप को देखकर लोक चकित है, मेरा तो धैर्य ही जाता रहा; शान्ति ही भाग गई २५-कालके सदृश भयंकर जबड़ोंवाले ये मुख देखकर मैं तो दिशा ही भूल गया, मुझे चैन ही नहीं पड़ता, हे देवों के देव! प्रसन्न हो जाओ २६-राजाओं सहित ये कौरव, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे योधा सभी तो आपही के भयङ्कर मुखों में घुस रहे हैं २७-कोई भीतर आरहे हैं, कोई दांतों में लटक रहे हैं, कईयों के सिर कुचल गये हैं २८-जैसे नदियोंके अनेक वेग समुद्र में ही जा मिलते हैं, उसी प्रकार ये योधा सभी आपके मुखमें ही जारहे हैं २९-जैसे पतंग अपने नाशके लिये वेगसे प्रज्वलित अग्नि पर पड़ते हैं इसी प्रकार ये सब योधा वेगसे आपके ही मुख में गिररहे हैं ३०-प्रज्वलित अग्नियों की लपटों से सबको तुम चाट रहे हो और जगत् को अपने उग्र तेज से भरकर तपा रहे हो ३१-हे देव, उग्ररूप आप कौन हैं, कहो तो सही, प्रसन्न हो जाओ क्योंकि आदिरूप आपको मैं जानना चाहता हूं, आपकी करनी को जानने में असमर्थ हूं।

कृष्ण।

३२—३४ ३२-मैं सब लोकों का संहारक अक्षय काल हूं, सबके नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हूं, इस युद्ध

में तुझको छोड़कर कोई नहीं बचेगा ३३-इस लिये उठो, यश को लेलो, शत्रु को जीतकर राज्य भोग मैंने इनको पहले ही मार रक्खा है, नाम के लिये तुम निमित्त बन जाओ ३४-द्रोण, भीष्म. जयद्रथ, कर्ण—मुझसे मारे हुए इनको तुम मारो, खेद मत करोः युद्ध करो, रण में शत्रुओं को अवश्य जीतोगे—

सञ्जय ।

३५— ३५-इस वचन को सुनकर काँपते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़ नमस्कार करके बड़ी नम्रता से गद्गद होकर कहा—

अर्जुन ।

३६—४६ ३६-सब आपके नाम लेने में प्रसन्न और आप से प्रेम करते हैं और सिद्ध पुरुष आपको नमस्कार करते हैं, राक्षस भयसे भाग रहे हैं यह सब ठीक ही है ३७-सदसत्स्वरूप, ब्रह्मा के भी ब्रह्मा, सबसे श्रेष्ठ आपको क्यों न नमस्कार करें ३८-क्योंकि तुम ही तो आदि देव हो, पुराण पुरुष, सृष्टि के परम निधान, सब तुम ही हो—तुमही सबको जानते हो, तुम्हीं ने सब व्याप्त कर रक्खा है ३९-वायु, यम, वरुण, अग्नि. चन्द्रमा, प्रजापति और पितामह सब तुमहीहो, आपको बार बार नमस्कार सहस्रबार नमस्कार ४०-आगे पीछे, ऊपर नीचे, चहुं ओर तुमहीं तो हो, आपको नम-

स्कार है, तुम्हारा वीर्य और पराक्रम अनन्त है-सब को व्याप्त किये बैठे हो इसलिये सर्व कहलाते हो ४१-अज्ञानसे आपकी महिमा को न समझकर प्रमाद, प्यार अथवा मित्रभावसे, हे कृष्ण, हे यादव हे सखा ऐसा जो बुलाता रहा ४२-अथवा एकान्तमें अथवा उठते, बैठते चलते चलाते, खाते पीते समय हँसी मस्करी करता रहा, उस सबके लिये क्षमा चाहताहूं, मुझे क्या खबर थी कि आपका यह स्वरूपहै ४३-चराचर के पालक सबके पूज्य गुरु और बड़े तुमही हो, आप से अधिक या तुल्य कोई नहीं है, तीनों लोकोंमें आपका अनन्त प्रभाव है ४४—इसलिये, हे पूजनीय स्वामिन् चरण छूकर आपको प्रसन्न करता हूं, पिता जैसे पुत्रकी या मित्र जैसे मित्र की या प्रिय जैसे प्रिय की सह लेता है उसीप्रकार मेरी धृष्टता को सहलीजिये ४५—मैंने ऐसा रूप कभी नहीं देखा था। भय से मेरा मन घबरा गया है, मुझे तो अपना वही पहिला रूप दिखाइये, देवेश! प्रसन्न हूजिये ४५—हे सहस्र बाहो, वही चतुर्भुज मुकुट, गदा और चक्र-वाला रूप दिखाइये—

कृष्ण।

१७—४९—　४७-हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर ही अपने योगसामर्थ्य से वह तेजोमय, आद्य, व्यापक,

अनन्तरूप दिखाया जिसको किसीने पूर्व कभी नहीं देखा था ४८—वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, उग्रतप इनसे कोई मुझे नहीं देखसकता केवल तुम ही देख सकते हो ४९—घबराओ मत, मेरे इस घोर रूपको देखकर विचलित मत होओ। निर्भय और प्रसन्न होकर वही मेरा रूप देखो—

संजय।

५०— ५०—ऐसा कहकर कृष्णने फिर अपना वही सौम्य रूप दिखाया और अर्जुन को धीरज बंधाया—

अर्जुन।

५१— ५१—अब मुझे चेत हुआ, अब अवसान ठीक हुए—

कृष्ण।

५२—५५ ५२—जो तुमने मेरा यह रूप देखा है, इस के लिये देव भी तरसते रहते हैं, ऐसा दर्शन दुर्लभ है ५३—वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से भी तुम उसदर्शन को इसप्रकार नहीं पासकतेथे ५४—अनन्यभक्ति से ही मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूं देखा जासकता हूँ, प्रविष्ट किया जासकता हूं ५५—सब भूतों में वैर छोड़कर, निःसंग होकर, मेरा ही भक्त रहकर मेरे ही ध्यान से मेरे लिये कर्म करता हुआ पुरुष मुझको पाता है—

(इति विश्वरूपदर्शनयोगः)

—:o:—

द्वादशोऽध्यायः
(भक्तियोगः)

अर्जुन

१— १—इस प्रकार सतत युक्त हुए जो भक्त आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं इन दोनों में उत्तम योगी कौन है?

कृष्ण

२-२० २—उत्तम श्रद्धा से युक्त होकर लगन से जो मेरी उपासना करते हैं वे परम योगी हैं ३-और जो अव्यक्त, अनिर्देश्य, सर्वव्यापी अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव अक्षर की ४-सर्वत्र समबुद्धि होकर, इन्द्रियों को वशमें रखकर उपासना करते हैं वे मुझकोही प्राप्त होते हैं ५-जो अव्यक्तकी उपासना करते हैं उनको अधिक क्लेश होता है क्योंकि मनुष्योंके लिये अव्यक्त उपासनाका मार्ग कठिन है ६-जो समस्त कर्मों को छोड़कर अनन्यभाव से मेरीही उपासना करते हैं ७-मैं उनको बहुत शीघ्रही भवसागर से पार कर देता हूं ८-इसलिये मुझ में ही मन और बुद्धि लगा दो, फिर मृत्युके पश्चात् भी मुझमें ही रहोगे ९-यदि मुझमें स्थिर रूप से चित्त नहीं लगा सकते तो अभ्यासयोग से प्राप्त करने की चेष्टा करो १०-यदि अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे लियेही

कर्म किया करो, इससे भी तुम्हें सिद्धि मिलेगी ११-यह भी नहीं कर सकते तो वशी होकर मेरे योगके आश्रयसे समस्त कर्मफल का त्याग करो १२-अभ्याससे ज्ञान उत्तम है, ज्ञानसे ध्यान उत्तम ध्यानसे कर्मफलका त्याग अच्छा क्योंकि त्यागसे तुरन्त शांति मिलती है १३- जो किसी से द्वेष न रखने वाला, सबसे मित्रता करनेवाला कृपालु, निर्मम, निरहङ्कार, सुख दुःखमें समान, क्षमावान् १४-वशी, दृढ़, सदा संतुष्ट योगी है और जिसने मुझमें ही मन और बुद्धि लगा दी है वह भक्त मुझे प्यारा है १५-जिससे लोक नहीं घबराते और जो लोगों से नहीं घबराता, और जो हर्ष, अमर्ष, भय उद्वेग से पृथक् रहता है वह मुझे प्रिय है १६-जो निरपेक्ष, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित और निरारम्भ रहता है वही मुझे प्रिय है १७-जो न हर्ष करता है न द्वेष रखता है, न शोक करता है न कुछ चाहता है, शुभ अशुभको छोड़ता है वही भक्त मुझे प्रिय है १८-शत्रु, मित्र, मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख में समान रहता है, संगरहित वह मुझे प्रिय है १९-निन्दा और प्रशंसा में जो समान रहता है, मौनी है, जो कुछ मिलता है उसहीमें संतुष्ट रहता है, जो फल अथवा वासनाओं से दूर है, स्थिर है वही भक्त मुझे प्रिय है २०-जो श्रद्धालु भक्त इस अमृत तुल्य धर्मको करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

(इति भक्तियोगः)

त्रयोदशोऽध्याय:

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः]

कृष्ण

१-३४ १—इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, उसको जो जाने वह क्षेत्रज्ञ है २—सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझेही जानो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान वही मेरा ज्ञान है ३—वह क्षेत्र क्या है, कैसा है, उसके कौन कौनसे विकार हैं, किससे क्या होता है, क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका क्या प्रभाव रहता है? सबकुछ मुझसे संक्षेपसे सुनो ४—इस विषयको ऋषियोंने भी पृथक् पृथक् छन्दों द्वारा गाया है युक्तिप्रयुक्ति से भी पूर्ण रूप से निश्चय किया है ब्रह्मसूत्र भी इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं

५-पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार बुद्धि, प्रकृति, दश इन्द्रिय, मन पांचों इन्द्रियों के पांच विषय। ६-इच्छा, द्वेष, सुख दुःख संघात चेतना अर्थात प्राणों का व्यापार धृति इन ३१ तत्त्वों को सविकार क्षेत्र कहते हैं ७-मान और दम्भ रहित होना अहिंसा, क्षमा, सीधापन, आचार्यसेवा, शौच, स्थिरता, मनोनिग्रह ८-विषयों में वैराग्य, अहङ्कार रहित होना, जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि दुःख आदि दोषोंका ध्यान रखना ९-अशक्त होकर प्रपञ्च में न फँसना, इष्ट अनिष्ट के

आ पड़ने पर भी विचलित न होना १०-अनन्य योगसे मुझ में अटूट श्रद्धा रखना जनसमुदाय से दूर एकान्त में रहना ११-सदा भीतर दृष्टि रखना, तत्वज्ञानकी परताल करते रहना-इनका नाम है ज्ञान, शेष सब हैं अज्ञान १२-अब तुझको ज्ञेय=जानने योग्य जो है उसको बतलाते हैं जिस को जानकर अमर हो जाता है, वह अनादि पर-ब्रह्म सत् नहीं है असत् भी नहीं है १३-चहुं ओर उसी के हाथ, पैर, आँख, सिर, मुख और कान हैं—वह सर्व व्यापक है १४-उसीमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास रहता है पर वह स्वयं इन्द्रियरहित है, असक्त होता हुआ भी सबका पोषक है, निर्गुण होकर भी गुणोंका उपभोक्ता है १५-वह बाहर भी है, भीतर भी है, चर भी है और अचर भी, सूक्ष्म होनेसे जाना नहीं जाता किंतु दूर भी है और समीप भी १६-अखण्ड होकर भी खंड रूप से सबमें रहता है, सबका स्वामी सब का काल और सबका उत्पादक है १७-वह ज्योतियों की ज्योति है तमसे परे है, ज्ञान, जप, और ज्ञानगम्य वही है और सबके हृदयमें स्थित है १८-यह संक्षेप से क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेय बतलाया है इसको जानकर मेरा भक्त मुझमें ही आ मिलता है १९- प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, अब उस प्रकृति के विकार और गुणोंको प्रकृति सेही हुआ समझो २०-देह और इन्द्रियों के कर्तृत्व का प्रकृति ही कारण कही जाती है, सुख

दुःखके भोगने के लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण माना जाता है, वस्तुतः पुरुष कर्ता नहीं है २१-पुरुष प्रकृतिके वशमें आकर उसके गुणोंको उपभोग करता है और भली बुरी योनिमें जानेका कारण यही इसका संग है २२-इसी शरीर में दूसरा एक परपुरुष=परमात्मा रहता है जो साक्षिरूपेण सब कुछ देखता व चक्र घुमाया करता है वही द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता महेश्वरहै। २३-जो इस प्रकार पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जान लेता है वह कर्म करके भी फिर संसार में नहीं आता २४-कोई ध्यान द्वारा आत्मा को देखते हैं, कोई ज्ञानयोग से और कोई कर्म योग से उसको पातेहैं २५-कोई दूसरोंसे सुनकर और उस मार्ग में चलकर मृत्यु को तर जाते हैं २६-जो कुछ स्थावर और जंगम है वह सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से हुआ है २७-जो समस्त विनाशी प्राणियोंमें स्थित उस अविनाशी को जान लेताहै वही तत्त्व को जानताहै २८-जो उस अविनाशी ब्रह्म को व्यापक समझकर सर्वत्र समदृष्टि रखता है वह फिर अपना घात नहीं करता और परमगति को पाता है २९-और जो यह समझताहै कि करनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्त्ता है वही पहुंचा हुआ है ३०-जब एक में नानात्व और नानात्व में ही एकत्व दीखने लगे तब जानो कि ब्रह्म मिलने लगा ३१अनादि, निर्गुण होने से परमात्मा अव्यय निर्विकार है,

शरीर में रहता हुआ भी वह न कुछ करता है न लिप्त होता है ३२-जैसे सूक्ष्म होने से सर्वव्यापक आकाश सब में होकर सब से पृथक् है इसी प्रकार देह में विभु होकर भी आत्मा अलिप्त है ३३-जैसे अकेला सूर्य समस्त जगत् का प्रकाश करता है, इसी प्रकार क्षेत्री अर्थात् आत्मा शरीर में प्रकाशक है ३४-इस प्रकार ज्ञानरूपी चक्षु से जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद और भूतों की प्रकृति के मोक्ष जान लेते हैं वे परब्रह्म को पालेते हैं।

(इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः)

चतुर्दशोऽध्यायः

(गुणत्रयविभागयोगः)

कृष्ण

१—२० १-लो फिर मैं तुमको सर्व श्रेष्ठ ज्ञान बतलाता हूं जिसको जानकर मुनि लोग सिद्धि को पा गये २-इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मुझमें आ मिलतेहैं वे जन्म मरण के बन्धनसे छूट जाते हैं ३--प्रकृति मेरी योनि है मैं उसमें गर्भ रखता हूं तब सब प्राणी उत्पन्न होतेहैं ४-सब योनियों में जो मूर्तियां उतपन्न होती हैं उनकी योनि है प्रकृति और मैं हूं बीज डालने वाला पिता ५-

प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्व, रज तम ये तीनों गुण शरीर में अविनाशी आत्मा को बांधते हैं ६-सत्व गुण निर्दोष है, निर्मल होने से प्रकाशक है सुख और ज्ञान से प्राणियों को बांधता है ७-रजोगुण राग उत्पन्न करता है तृष्णा और संग से उत्पन्न होता है, कर्म संग से बांध देता है ८-तमो गुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और सबको मोहता है प्रमाद आलस्य निद्रा से बांध डालता है ९--सत्व सुख में रजोगुण कर्म में और तमोगुण अज्ञान द्वारा प्रमाद में डालता है १०—कभी रज और तम को दबाकर सत्व बढ़जाता है कभी सत्व और तम को दबा कर रज बढ़ता है और कभी सत्व और रज को तमोगुण दबा बैठता है ११--जब इन्द्रियों के द्वारों में प्रकाश होकर ज्ञान बढ़ने लगे तब जानो कि सत्व बढ़ा १२--जब लोभ प्रवृत्ति आरंभ, अशान्ति स्पृहा बढ़ने लगे तब समझो रजोगुण आया १३—जब अन्धेरा आवे काम करने का जी न चाहे प्रमाद और मोह बढ़े तब जानो कि तमोगुण आया १४—जब सत्व गुण की वृद्धि के समय मृत्यु आवे तब जानना कि उत्तम गति मिलेगी १५—रजोगुण में मरकर जन्म मरण के बन्धन में आजाता है और तमोगुण की बाढ़ में मरकर मूढ़ योनियों में आता है १६—पुण्य कर्मों का फल निर्मल सात्विक, राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान

होता है १७—सत्व से ज्ञान, रज से लोभ और तम से प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं १८-सात्विक पुरुष स्वर्गादि लोकों में, राजस मनुष्य लोक में तामस नीच योनियों में आते हैं १९-जब द्रष्टा देखलेता है कि कराने वाले गुण हो हैं और गुणों से परे स्थित मुझको जान लेता है वह मुझमें ही आ मिलता है २०-आत्मा इन देह से उत्पन्न हुए तीनों गुणों को पार करके जन्ममरण से छूटकर अमर हो जाता है

अर्जुन

२१-त्रिगुणातीत पुरुष के क्या लक्षण होते हैं वह गुणों को पार कर कैसे वर्तता है ?

कृष्ण ।

२२-सत्व, रज, तम इन त्रिगुणों के कार्य अथवा फल आनेपर जो द्वेष नहीं करता और न आनेपर जो इच्छा नहीं रखता २३—उदासीन सा रहता है, गुण जिसको डिगा नहीं सकते और गुण अपना काम करते हैं इसलिये स्वस्थ रहताहै २४-२५-सुखदुःख, कांचन और ढेला; प्रिय अप्रिय, निन्दा, प्रशंसा, मान अपमान, शत्रु मित्र, इनमें समान बुद्धि रखकर जो धीर बनारहता है और सब आरम्भों को छोड़ देता है वही त्रिगुणातीत है २६-जो अटूट भक्तियोग से मुझे भजताहै वह इन गुणों से पार होकर ब्रह्म में मिलजाता है २७-क्यों

कि अमृत अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म एवं सुख की पराकाष्ठा मैं ही हूं—

(इति गुणत्रयविभागयोगः)

पंचदशोऽध्यायः

([illegible])

कृष्ण ।

१—२० १—एक अश्वत्थ का वृक्ष है जो अविनाशी है जिसकी जड़ नीचे और शाखायें ऊपर को हैं, वेद उसके पत्ते हैं, जो इस वृक्ष को जानता है वही वेदज्ञ है, २—जिसकी शाखाएँ ऊपर नीचे फैला हुई हैं, जो कि गुणों (सत्वादि) से बढ़ती रहती हैं और जिस में विषयरूपी अङ्कुर फूट निकलते हैं, कर्म में बांधने वाली जिसकी जड़ें नीचे मनुष्यलोक में फैली हुई हैं ३—परन्तु इस का स्वरूप आदि अन्त मध्य कुछ भी नहीं दीखता। इस गहरी जड़ों वाले अश्वत्थ को दृढ़ असंगशास्त्र से काटकर ४—उस पद की खोज करनी चाहिये जिसको प्राप्त करके फिर मनुष्य लोक में लौटना नहीं पड़ता उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूं जिससे कि पुरातन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है ५—जिन्होंने कि मान मोह को छोड़ दिया है, जो संगदोष को जीते हुए हैं। संकल्पों को छोड़ जो सदा अध्यात्म में लगे हुए हैं, सुख दुःखादि द्वन्द्वों से छूटे हुए वे ज्ञानी उस अविनाशी पद को पाते हैं ६—सूर्य, चन्द्र,

अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते किन्तु उसी से प्रकाशित होते हैं, जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परम धाम है ७-जीवलोक में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिस्थ पांच सूक्ष्म इन्द्रिय और मनको खींचता है ८-जब वह शरीर प्राप्त करता है और जब वह छोड़ता है तब इनको साथ ही रखता है जैसे कि वायु पुष्पाश्रित गन्ध को लेजाता है ९-कान, आँख, त्वचा, जिव्हा, नासिका और मन इनमें ठहर कर जीव विषयों को भोगा करता है १०-शरीर में ठहरे हुए गुणान्वित होकर भोगों को भोगते हुए अथवा शरीर से निकलते हुए उसको अज्ञानी देख नहीं सकते, ज्ञानचक्षु देखते हैं ११-प्रयत्नशील योगी अपनेमें ही स्थित उसको देख लेते हैं, परन्तु असंयमी पुरुष यत्न करते हुए भी नहीं देख सकते १२-समस्त जगत् को प्रकाश देनेवाला जो तेज सूर्य में है अथवा चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है-वह सब मेरा ही है १३-पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सबका पोषण करता हूं रसात्मक चन्द्र बनकर समस्त ओषधियों की पुष्टि करता हूं, १४-मैं ही वैश्वानर अग्नि बनकर प्राणियों के देहमें स्थित हूं और प्राण अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पकाता हूं १५-मैं ही सबके हृदय में बसा हुआ हूं। मुझसे ही सब की स्मृति, ज्ञान और नाश है, समस्त वेदों से

मैं ही जानने योग्य हूं और वेदों का कर्त्ता मैं ही हूं १६-इस लोक में दो पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर सब प्राणी क्षर हैं और इनकी मूल अविकृति प्रकृति अक्षर है १७-परन्तु तीसरा एक उत्तम पुरुष है जो इन दोनों से पृथक् है और परमात्मा कहा जाता है अविकारी जो कि तीनों लोकों में प्रविष्ट हुआ सब का धारण एवं पोषण करता है १८-जिस कारण कि मैं क्षर और अक्षर से परे हूं इस लिये लोक और वेदों में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं १९-इस प्रकार मोहरहित होकर जो मुझे जानता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभाव से मुझे ही भजता है २०-हे निष्पाप अर्जुन मैंने तुझे यह अत्यन्त गूढ शास्त्र बतलाया है इसको जान कर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य होता है—

(इति पुरुषोत्तमयोगः)

षोडशोऽध्यायः

(दैवासुरसम्पद्विभागयोगः]

कृष्ण।

१—२४　१-२-३-दैवीसम्पद् में जो जन्म लेते हैं उनमें अभय, शुद्ध सत्व गुण, ज्ञान और कर्म की व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (चुगली न करना) प्राणियों में दया, अलोलुप

ना, मृदुता, लज्जा, अचापल, तेज, क्षमा, धृत, शौच, अद्रोह, अतिमानी न होना, ये गुण होते हैं ४-आसुरी सम्पद् में जन्म लेनेवालों में दंभ, द , , क्रोध और कठोरता ये गुण होते हैं ५-दैवी सम्पद् से मोक्ष मिलता है आसुरी सम्पद् से बन्धन मिलता है, तुम दैवीसम्पद् में हुए हो इसलिये शोकमत करो६-इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है एक दैवी दूसरी आसुरी, दैवी सृष्टि के बारे में विस्तारसे कह चुके हैं, अब आसुरीको सुनो७-आसुरी वृत्तिकेलोग प्रवृत्ति निवृत्ति के मर्म को नहीं समझते, न उनमें शौच, आचार और सत्य रहता है८-वे जगत् को मिथ्या बतलाते हैं, परमेश्वर को नहीं मानते हैं, जगत् को वैसेही हुआ मानते हैं और केवल विषयवासना को पूर्ण करने का साधन समझते हैं ९ ये छोटी बुद्धिवाले लोग जिनकी कि आत्मा ही नष्ट होचुकी है, आँखें मूंदकर उग्रकर्मों द्वारा जगत् का अहित करते रहते हैं १०—कभी भी न पूरी होनेवाली अभिलाषाओं के पीछे पड़कर, दंभी मानी अशुचि ये लोग मोह व झूठे आग्रहमें प्रवृत्त होते रहते हैं ११—मरणतक अनन्त चिन्ताओं में लिप्त हुए ये कामोपभोग को ही परम सिद्धान्त मानते हैं और उसी को लक्ष्य बनाये रखते हैं १२-कामी क्रोधी सैकड़ों आशाओं में बंधे हुए वे कामभोग के लिये अन्याय से धन एकत्रित करते रहते हैं १३-आज मुझे यह मिला,

फल यह मिलेगा यह वह है ही और भी मिलेगा १४-मैंने इस शत्रु को मारा औरों को भी मारूंगा, मैं ईश्वर हूं, भोगी, बलवान् सिद्ध सुखी हूं, १५-ऐश्वर्यवाला बड़े कुलका हूं, मेरे सदृश कौन है, यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आमोद प्रमोद करूंगा इस प्रकारके अज्ञान में पड़कर १६-भ्रम और मोहजालमें फँस-कर, काम भोगमें ग्रसे हुए वे अपवित्र नरक में गिरते हैं १७-अपने को ही बड़ा समझने वाले वे, ऐंठ में रहकर धन मान मद युक्त होकर, शास्त्र विधि को छोड़कर दंभसे यज्ञ करते हैं १८-अहं-कार, बल, दर्प, काम, क्रोध का सहारा लेकर, अपने और पराये देहमें वर्त्तमान मेरी निन्दा करने वालों को १९-द्वेषी क्रूर और निकृष्ट लोगों को सदा आसुरी योनियों में भेजता हूं २०-उस आसुरी योनि में जन्म जन्मातर तक पड़े हुए, मुझे न पाकर नीच गति को जाते हैं।

२१-काम, क्रोध, लोभ, ये तीनों नरक का द्वार हैं और आत्मा को नष्ट करनेवाले हैं, इस-लिए इनको छोड़ना चाहिये २२-इन तीनों नरक के द्वारों से बचा हुआ पुरुष अपना कल्याण करता है और परम गति को प्राप्त होता है २३-जो पुरुष शास्त्रविधि को छोड़कर केवल फलकी इच्छासे कर्म करता है न उसको सिद्धि मिलती है, न सुख, न परगति २४-इसलिये जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना हो तब शास्त्र

को प्रमाण मानो, और शास्त्रविधि को जानकर कर्म किया करो,

(इति दैवासुरसम्पद्-विभागयोगः)

सप्तदशोऽध्यायः

(श्रद्धात्रयविभागयोगः)

अर्जुन

१–२८ १–जो शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धा पूर्वक यज्ञ करते हैं वे सात्विक हैं या राजस, तामस, उनकी मनकी स्थिति कैसी रहती है?

कृष्ण

२–प्राणियों की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है–सात्विकी राजसी, और तामसी ३–सबकी श्रद्धा स्वभावानुसार ही होती है, यह पुरुष श्रद्धामय है और जैसी जैसी श्रद्धा वाला होगा वैसा वैसा कहलाया जायगा ४–सात्विक पुरुष देवोंको राजस यक्षराक्षसों को और तामस प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं या यजन करते हैं ५–६–जो दंभ, अहंकार, काम, राग और बल वाले अपने शरीर भूतोंको और भीतर उपस्थित मुझको कष्ट देते हुए शास्त्र विरुद्ध घोर तपको तपते हैं वे निश्चय ही आसुरी स्वभाव के हैं ७–प्रत्येककी रुचिके अनुसार आहार, यज्ञ, तप, दान, भी तीन प्रकार के होते हैं ८–सात्विक पु-

रुषको आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति बढ़ाने वाले रसीले चिकने, स्थिर और आनन्द दायक पदार्थ अच्छे लगते हैं ९-राजस पुरुषको कड़वे, खट्टे, नमकीन, अति उष्ण, रूखे, तीखे, दाह करने वाले अतएव दुःख शोक और रोग बढ़ाने वाले पदार्थ प्रिय होते हैं १०-चुसा हुआ, बासी, सूखा, गन्धीला, झूठा, अपवित्र पदार्थ तामसको प्रिय लगता है ११-कर्त्तव्य समझ कर फलाशाको छोड़कर विधिपूर्वक जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक है १२-नाम अथवा फलके लिये विधिरहित यज्ञ राजस है १३-विधि, मंत्र दान और श्रद्धासे हीन अशुद्ध अन्नका जो यज्ञ है वह तामस है १४ देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ इनकी पूजा-अर्चा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शारीरिक तप हैं १५-मधुर, प्रिय हित सत्य बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास ये वाङ्मय तप है १६-मनकी प्रसन्नता सौम्य होना, मौन: संयम, भावशुद्धि ये मानस तप हैं १७-फल की आकांक्षा छोड़कर परम श्रद्धासे तपा हुआ तप सात्विक है १८-सत्कार, मान, पूजाके लिये दंभ से जो तप है वह राजस है १९-हठ से वृथा कष्ट सहकर दूसरों को क्लेश पहुंचाने के लिये जो तप है वह तामस है २०-कर्त्तव्य समझ कर देश काल और पात्रको देखकर जो दिया जाता है वह सात्विक दान है २१-फलकी आशासे या बदले में या दुःखी होकर जो दिया जाता है वह रा-

जस है २२-देशकाल पात्रका ध्यान न रखकर, सत्काररहित तिरस्कारपूर्वक जो दिया जाता है वह तामसहै २३-ॐ तत्सत् यह ब्रह्मका तीन प्रकारका निर्देश है उसीके अनुसार पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुये २४-इसीलिये ब्रह्मवादी ॐ ऐसा कहकर ही विधिपूर्वक यज्ञ दान और तप करते रहते हैं २५-तत् से अभिप्राय है कि फलका संग छोड़कर यज्ञादि करते रहें सो मोक्षाकांक्षी ऐसाही करते हैं २६-अस्तित्व, साधुता, और अच्छे कर्मोंके लिये सत् शब्द आता है और २७-यज्ञ और दान में जो स्थिति और उसके लिये किये जाने वाले कर्म भी सत् कहे जाते हैं २८-अश्रद्धा से किया हुआ, दिया हुआ, तपा हुआ असत् कहा जाता है ऐसे कर्म करने वालों को न इस लोक में सुख मिलता है न परलोक में।

(इति श्रद्धात्रय विभागयोगः)

अष्टादशोऽध्यायः

[मोक्षसंन्यासयोगः]

अर्जुन

१— १- हे कृष्ण ! संन्यास और त्यागका पृथक् पृथक तत्व जानना चाहता हूँ—

कृष्ण

२-७२ २-काम्य कर्मों को छोड़ देना संन्यास है और सम,

क्त कर्मोंके फलोंको छोड़ देना त्याग-यही पण्डितों का मत है ३-कोई कहते हैं कि दोषयुक्त कर्मों को छोड़ना चाहिये और किन्हीं का मत है कि यज्ञ, दान, तप और कर्मको न छोड़ना चाहिये ४-इस त्यागके विषयमें मेरा निश्चय यह है, सुनो —त्याग तीन प्रकारका है ५-यज्ञ, दान, तप और कर्मको छोड़ना नहीं चाहिये, करनाही चाहिये क्यों कि इससे बुद्धिमान् पुरुष पवित्र होते हैं ६-इनको भी संग और फल छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है ७-स्वधर्म के अनुसार नियत कर्मका संन्यास नहीं हो सकता, अज्ञानसे छोड़ बैठना तामस त्याग है ८-शरीरके क्लेश या दुःख के कारण किया हुआ त्याग राजस है-इस प्रकारके त्यागी को फल नहीं मिलता ९-संग और फलको छोड़कर कर्त्तव्य बुद्धिसे जब कर्म किया जाता है वह त्याग सात्विक है १०-सात्विक त्यागी अच्छे में फँसता नहीं और बुरे से घबराता नहीं, वही सच्चा बुद्धिमान् संदेहरहित संन्यासी है ११-मनुष्य कभी भी समस्त कर्मों को छोड़ नहीं सकता, जो कर्मफल को छोड़ता है वही त्यागी है १२-फलाशा को न छोड़ने वालों के लिये अनिष्ट, इष्ट, और मिश्रित तीन प्रकार के कर्मफल मिलते हैं संन्यासी इनसे बचे रहते हैं १३-सांख्यों के सिद्धान्त सर्व कर्मोंकी सिद्धिमें ये पांच कारण बन लाये हैं उनको मुझसे जान लो १४-स्थान, कर्त्ता साधन, व्यापार और दैव १५-मन, वचन, कर्मसे

मनुष्य उल्टा या सुलटा जो कर्म करता है उसमें ये पांच हेतु होते हैं १६-जब यह बात है तब केवल अपने आपको कर्त्ता समझने वाला निर्बुद्धि पुरुष तत्व को नहीं समझता १७-जिसमें अहंकार नहीं, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं वह इन लोगों को मार कर भी नहीं मरता और न बँधता है १८-ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता ये तीन कर्म के प्रेरक हैं, करण, कर्म, कर्त्ता ये तीन प्रकार के कर्म संग्रह है १९-और गुणों के भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी तीन प्रकार के होतेहैं,मुझसे ठीक ठीक सुनो २०-जिस ज्ञान से नाना प्राणियोंमें भी एकत्वकी भावना हो वह सात्विक ज्ञान है २१-जब सबमें पृथक् पृथक् भावना हो तब वह राजस ज्ञान है २२-जब अज्ञान से एक को ही सब कुछ समझ बैठता है वह अतात्विक अल्पज्ञान तामस है २३-राग द्वेष, संग फलको छोड़ कर किया हुआ नियतकर्म सात्विकहैं२४-अहंकार और फलाशा से बहुत कष्ट उठाकर जो किया जाय वह राजस कर्महै २५-परिणाम, क्षय, हिंसा, पुरुषार्थ इन बातों का ध्यान न रखकर अज्ञान से किया हुआ कर्म तामस है २६-संग और अहंकार छोड़कर, धृति और उत्साह से युक्त होकर सिद्धि असिद्धि में निर्विकार रहने वाला कर्त्ता सात्विक है २७-रागी फलाशा में बंधा हुआ, लोभी हिंसक, अशुचि हर्षशोक करनेवाला कर्त्ता राजस है २८-चंचल गँवार, पेटू, धूर्त, दूसरों को हानि

करनेवाला, आलसी, विषादी, दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कहलाता है २९-अब अर्जुन, अब बुद्धि और धृति के तीन तीन भेद सुनो ३०-जिस बुद्धि से प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्याकार्य, भयाभय, बंध मोक्ष का ठीक पता चलता है वह सात्त्विकी है ३१- जिससे धर्माधर्म और कार्याकार्य यथार्थ न जाने जासकें वह राजसी है ३२-अज्ञान से ढकी हुई जो अधर्म को धर्म समझे और सबको विपरीत समझने या देखने लगे वह तामसी बुद्धि है ३३-जिस धृति से अटूट योग द्वारा मन प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएँ ठीक होती रहती हैं वह सात्विकी धृति है ३४-जिस धृति से धर्म काम अर्थ चलते हैं और जो कभी फलकी ओर झुकती है वह राजसी धृति है ३५-जिस धृति से स्वप्न, भय, शोक, विषाद, मद आदि में दुर्बुद्धि पुरुष पड़ा रहता है वह तामसी धृति है ३६-अब तीन प्रकार का सुख सुनो, जिसमें अभ्यास से लगा रहता है और जिससे दुःख का अन्त होता है ३७-जो प्रारम्भ में विषमय किन्तु परिणाम में अमृत के सदृश अतीत हो वह आत्मरत बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होनेवाला सुख सात्विक है ३८-विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्रारम्भ में अमृत तुल्य किन्तु परिणाम विष के सदृश होनेवाला सुख राजस है ३९-जो प्रारम्भ व परिणाम में मोह डालने वाला निद्रा, आलस्य और प्रमाद

से उत्पन्न हुआ गुण तामस है ४०-पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में देवों में चाहे जहाँ देखो एक भी ऐसी वस्तु नहीं मिलेगी जिसमें ये तीनों गुण न हों ४१--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्म स्वाभाविक गुणों से ही बटे हुए हैं ४२-शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ४३-शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में स्थिरता, दान, ऐश्वर्यभाव ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं ४४-कृषि, गोरक्षा, व्यापार ये वैश्यों के स्वाभाविक गुण हैं और तीनों वर्णो की सेवा शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है ४५-अपने अपने कर्म में लगा हुआ पुरुष किस प्रकार सिद्धि को पाता है, यह सुनो ४६-जिससे सब की प्रवृत्ति हुई, जिससे जगत् व्याप्त है, उसी को अपने कर्मों से पूजकर मनुष्य सिद्धि को पाता है ४७-सुलभ परधर्म से अपना अधूरा अथवा कठिन धर्म अच्छा । स्वभाव नियत कर्म को करते हुए पुरुष को पाप नहीं लगता ४८-स्वाभाविक कर्म सदोष हों तो भी न छोड़ने चाहियें, जैसे धूएँ से आग इसी प्रकार समस्त आरम्भ दोष युक्त ही होते हैं ।

४९-असक्तबुद्धि, जितात्मा, निःस्पृह पुरुष संन्यास से परम नैष्कर्म्य सिद्धि को पाता है ५०--सिद्धि को प्राप्त पुरुष ज्ञान की पराकाष्ठा ब्रह्मको कैसे प्राप्त करते हैं इसको संक्षेप से

सुनो ५१--विशुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ, धृति से आत्मा को वश में करके, शब्दादि विषयों और रागद्वेष को छोड़ देता है ५२--एकान्त में रहता है, थोड़ा खाता पीता है, मन, वचन, कर्म से संयम रखता है, वैराग्य के आश्रय से नित्य ध्यान में लगा रहता है ५३--अहंकार, वल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह को छोड़कर निर्भय शान्त हुआ ब्रह्म में मिलने के योग्य होजाता है ५४--तब वह प्रसन्न रहता है, न कुछ सोचता है न चाहता है, सब में समानभाव रखता हुआ मेरी परमभक्ति को पाता है ५५--उस भक्ति से मैं जो हूं जितना हूं इस तत्त्व को जानकर मुझमें प्रवेश करता है ५६--और मेरे आश्रय से सब कर्मों को करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत, अव्यय पद को पाता है ५७--इसलिये चित्त से सब कर्मों को छोड़कर, बुद्धियोग के आश्रय से चित्तको मुझमें ही रख ५८-तब मेरी कृपा से सब संकटों को तर जाओगे, यदि अहंकार से मेरी बात न सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ५९-जो तू अहंकार के आश्रय से मैं नहीं लड़ूँगा ऐसा मानता है, यह तेरा झूठा निश्चय है, तेरा स्वभाव तुझको जोड़ ही देगा ६०--अज्ञान से तू स्वाभाविक बंधा हुआ कर्म नहीं करना चाहता, किन्तु विवश होकर करेगा ही ६१--हे अर्जुन सबके हृदय में ईश्वर स्थित है वह यन्त्र के सदृश अपनी माया से सबको

घुमाता रहता है ६२-उसीकी शरण गहो, उसी की कृपा से परम शान्ति और शाश्वत स्थान को पाश्रोगे ६३-यह मैंने तुमको गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा, अब सोच समझकर जैसा चाहो करो ६४-तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो इसलिये एक और अन्त की गुह्य बात सुनो ६५-देखो, मुझमें ही मनको लगाओ, मेरे ही भक्त बनो मेरे लिये ही यज्ञ करो, फिर मुझमें ही आमिलोगे मैं सत्य कहता हूं, तुम मेरे प्रिय हो मेरी बातको ठीक ही समझो ६६-सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आजा मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूंगा सोच मत करो ६७-देखो, जो भक्त नहीं, जो तपस्वी नहीं, जो सुनना नहीं चाहता, जो मेरी निन्दा करता है ऐसे को यह ज्ञान मत बतलाना ६८-जो इस परम गुह्य ज्ञान को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मेरा ही परम भक्त बनकर निःसंशय मुझमें ही आमिलेगा ६९-उससे बढ़कर न कोई मुझको प्यारा है न कोई मेरा प्रिय करनेवाला है ७०-जो हमारे इस धर्मसंवाद को पढ़ेगा या मनन करेगा वह ज्ञानयज्ञ से मेरा ही यजन करेगा ७१-अनिन्दक होकर श्रद्धा से जो इस संवाद को सुनेगा वह भी पापों से छुटकर पुण्यात्माओं के शुभ लोकों में जायगा ७२-कहो अर्जुन एकाग्रचित्त से तो हमारी बात सुनली न? तुम्हारा अज्ञान संमोह तो नष्ट हुआ कि नहीं?

अर्जुन ।

७३— ७३-हे कृष्ण, तेरी कृपासे, मोह भग गया धर्म कर्म सूझगया, अब सन्देह नहीं रहा, आपके कथनानुसार करूंगा ।

संजय ।

७४—७८ ७४-इस प्रकार यह रोमाञ्चकारी, अद्भुत समन्न कृष्णार्जुन संवाद मैंने ७५-व्यासजी महाराज की कृपा से सुना, जो कि परम गुह्य योग है और जिसको साक्षात् भगवान् ने अपने श्री मुखसे कहा ७६-उस पुण्य पवित्र अद्भुत संवाद को बारबार स्मरण करके मुझे बार बार हर्ष होता है ७७-और विश्वरूप दर्शन में दिखाये हुए हरिके उस अद्भुत रूप को स्मरण करके मुझे अत्यन्त विस्मय होता है ७८-जहाँ योगेश्वर कृष्ण होंगे, जहाँ धनुर्धर अर्जुन होगा, वहाँ अवश्यही श्री होगी, विजय होगी, शाश्वत ऐश्वर्य होगा, और नीति होगी-ऐसा मेरा मत है—

(इति मोक्षसंन्यासयोगः)

ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु

शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु

———o———

——o——

——o——

फिर क्या हुआ ?

(६ से १८ पर्वतक का संक्षिप्त सार)

---o---

जब श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन का मोह नष्ट हुआ तब श्रीकृष्णने उससे पूछा "कहो अर्जुन ! कुछ समझ में आया ?" तब अर्जुन ने कहा 'देव, अब मैं कर्म अकर्म का तत्त्व समझ गया हूँ, जो कहो सो करूं'-यह सुनते ही श्रीकृष्ण को परम सन्तोष हुआ कि बला टली। अर्जुन के तैयार होते ही फिर क्या था, दोनों ओर के वीर तैयार हुए और सिंहनाद होने लगे। भीष्म पितामह ने दस दिन तक पाण्डव सेना का घोर संहार किया। जब वे गिर गये तब उनकी दशाका प्रबन्धकर पाण्डव फिर युद्ध में लग गये। इधर द्रोणाचार्य सेनापति बने इन्होंने धर्मयुद्ध के नियमों के विरुद्ध ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और सात महारथियों ने मिलकर अर्द्ध महारथी अभिमन्यु को मारा। इस पर अर्जुन ने जयद्रथवध की प्रतिज्ञा की और वह श्रीकृष्ण की कृपा से पार हुई। द्रोणाचार्य पाँचदिन तक युद्ध करते रहे। पाण्डवों ने भी "शठे शाठ्यम्" की नीति का आश्रय लेकर द्रोणाचार्य को अश्वत्थामा की मृत्यु की भ्रान्ति में डालकर युद्धसे विरक्त करादिया। ध्यानमें बैठे हुए उसका सिर धृष्टद्युम्न ने उतार लिया-कौरव कैम्प में हाहाकार मचा। इनके पश्चात् कर्ण आये, खूब पराक्रम दिखाये किन्तु अर्जुन का पराक्रम और कृष्णकी नीति के संमुख कहाँ तक टिकते-अन्त में गिर गये। फिर आये शल्य, सो युधिष्ठिर ने इनका वध कर डाला। गदायुद्ध में भीम ने दुर्योधन की जाँघें तोड़ डालीं-बस इसप्रकार कौरवों का सर्वनाश हुआ ! अश्वत्थामा,

पर और कृतवर्मा ने मिलकर रात्रिमें सोती हुई पाण्डव सेना का भयंकर संहार किया इसतरह पाँचोंपाण्डव, कृष्ण, धृष्टद्युम्न को छोड़कर प्रायः इधर भी सर्वनाश होगया। भीमसेन को क्रूरता व वीरता दोनों प्रशंसनीय थी। अर्जुन को दयालुता के कारण प्रत्येक कार्य में बड़ी देर लगती थी। कृष्ण जब उसको आवेश दिलाते थे तब वह पराक्रम दिखाता था। कौरव सेना के दलन में नकुल सहदेव ने भी घोर परिश्रम किया। अश्वत्थामा ने रात्रि में जो संहार किया था उसके बदले में दूसरे दिन उसको मस्तक मणि छिन गई और कृष्ण का शाप लगा कि तुम जंगलमें मारे मारे फिरोगे-इस प्रकार अठारह दिनों में युद्ध समाप्त हुआ। इसके पश्चात् रणक्षेत्र में पड़े हुए वीरों की स्त्रियें दर्शनार्थ आई, अपने अपने पति, पुत्रादिकों को खोजकर विलाप करने लगीं--

रणक्षेत्र में होने वाले करुणाक्रन्दन को सुनकर किस मानव प्राणी का हृदय न द्रवता होगा? उस दृश्य को कौन देख सकता था। आक्रोश विलाप के पश्चात् टूटे फूटे, चूरा हुए रथों की लकड़ियों के ढेर में सबको अग्निदाह दियागया। पश्चात् सब गंगाजी पर पहुंचे स्नान तर्पण हुआ। सब तो अपने घर को लौट गये किन्तु पाण्डव एक मास तक बाहर ही जंगल में पड़े रहे। युधिष्ठिर को अत्यन्त अनुताप हुआ और वह राजपाट से विरक्त होने लगा। उधर भीष्म पितामह अभी जीते थे, उत्तरायण में प्राण छोड़ना चाहते थे। श्रीकृष्ण की प्रेरणासे पाण्डव वहाँ जाते रहे और धर्मतत्त्व सुनते रहे। बीच में व्यास जी ने कई बार उपदेश दिया तब कहीं युधिष्ठिर का मोह जाता रहा। भीष्म पितामह की मृत्यु के पश्चात् उनकी उत्तरक्रिया कोसमाप्तकर निश्चित दिनपर(भीष्मपितामह

जिस दिन युद्धमें गिरेथे उस दिनसे ५८वें दिन प्राणोत्क्रमण हुआ) पाण्डवों ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया प्रजाको सन्तोष हुआ और उसने पाण्डवोंका खूब स्वागत किया। राज पाट का काम खूब चल निकला। युधिष्टिर धृतराष्ट्र का पूर्ववत् ही सम्मान रखता रहा। पन्द्रह वर्ष के पश्चात् धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती और विदुर ये सब वन में जाकर रहे, वहाँ ३-४ वर्ष में उन की मृत्यु हुई। युधिष्ठिर का मन राजकार्य से घबराने लगा, फिर भी धीरज धरकर सब कामकरतारहा। प्रजामें खूब शान्ति थी, मानो धर्मका ही राज्य था। कुछ कालके बीतने पर उसने सब भाइयों को एकत्रित किया और अपना संसार त्याग का विचार सुनाथा। सबने उसके साथ जाना स्वीकार कर लिया। द्रौपदी भी साथ होली। पीछे सब काम काज कृपाचार्य की देखरेख में परीक्षित पर छोड़कर, कौरवोंके वंश में जो कोई बचाथा उसकोभी कुछ भाग देकर, पांचों भाई और द्रौपदी तबसे जो उत्तरखण्ड की ओर गये सो फिर लौटे नहीं, वहीं उनके नश्वर देह समाप्त हुए किन्तु उनके धर्म-कर्म की, मान-मर्यादा की, उनकी कीर्त्ति की बात अब तक चली जाता है। उधर श्री कृष्ण जी भी कर्मधर्म संयोग से व्याध का बाण लगकर घायल हुए, उन्होंने तुरन्त समाधि लगाई, प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ाया और परम धाम को सिधार गये-इन की मृत्यु के पूर्व बलराम जी भी चल बसे थे। कलिके प्रभाव से यादव भी आपस में लड़ लड़कर नष्ट हुए—इसलिये प्रत्येक पुरुष को मनमें धर्मकी आस्था रखकर पाण्डवों की तरह वर्त्तना चाहिये। नहीं तो दुर्योधनादिकी तरह लोभमें प्रवृत्ति करेंगेतो परिणाममें दुःख के सिवाय और क्या मिलेगा? यही महाभारत का मथितार्थ है कि—"यतो धर्मस्ततो जयः"—

—:o:—

भारतसावित्री ।

मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि, यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥

संसारमें हज़ारों बार आये, हज़ारों बार गये हज़ारों माता, पिता, पुत्र, कलत्र, मित्र बन्धु बान्धव, आदि का अनुभव किया और आगे भी हज़ारों बार ऐसे अनुभव करने पड़ेंगे । फिर कौन किसके लिये शोक करे-संसारचक्र ही ऐसा है-इस तत्त्व को समझकर कामकरा व मग्न रहो ।

हर्षस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति न पण्डितम् ॥

दिनभर में पचासों बार हँसने व पचासों बार रोने, कभी डरने डराने का मौक़ा आ पड़ता है, महीनों या वर्षों या सारी उम्र का हिसाब लगाया जाय तो हज़ारों बार ऐसे रोने, हँसने, डरने-डराने के मौक़े आ पड़ते हैं । मूर्ख पुरुषही इस हँसने रोने के चक्र में पड़ता रहता है । विवेकी पुरुष, पण्डित लोग तो सावधान रहते हैं और संसार चक्रपर दृष्टि डालकर धर्म अधर्म पर दृष्टि धरकर पग रखते हैं जिससे पीछे रोना न पड़े ।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

मैं हाथ उठा उठाकर चिल्ला चिल्लाकर कहता हूं पर कोई सुनता ही नहीं । भाइयो धर्म से ही तुमको अर्थ व काम मिलेंगे उसी धर्म का सेवन क्यों नहीं करते हो । धर्मविहीन अर्थ व कामके फन्दे में आकर क्यों वृथा व्याकुल होते हो व संसार को भी व्याकुल करते हो--

न जातु कामान्न भयान्नलोभाद् धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः॥

लालचसे, डरसे, गुज़ारे के ख़याल से भी धर्म को कभी न छोड़ना चाहिये। धर्म नित्य है—मरने के पश्चात् वही साथ देने वाला है—संसार के सुख दुःख अनित्य हैं जीव नित्य है— जिन कारणों से जीव संसार में फँसता है वे कारण अनित्य हैं इसलिये धर्म ही का आश्रय लो।

—:o:—

श्री समर्थ रामदास स्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ दास-बोध में गीता के जिस जिस श्लोकपर या जिस किसी अंशपर अपने विचार प्रकट कियेहैं वे यहाँ उद्धृत किये जातेहैं। यह मनोरञ्जक भाग है। 'द' से दशक और 'स' से समास समझना।

—:o:—

नैनं छिन्दन्ति। (गी० २-२३)

ब्रह्म शस्त्र से कट नहीं सकता पावक से जल नहीं सकता, जल से गल नहीं सकता, वायु से उड़ नहीं सकता। वह गिरता-पड़ता नहीं है। और बनता-बिगड़ता नहीं है॥१६-१७॥

(दशक ६ समास २)

व्यवसायात्मिका बुद्धिः। (गी० २-४१)

श्रीकृष्ण गीता मे कहते हैं.........................

व्यवसाय के कारण जिसकी बुद्धि मलिन होगई है उसे अध्यात्म निरूपण नहीं समझ पड़ता, क्योंकि उसमें तो बड़ी सावधानी की जरूरत है न!५०॥ जैसे नाना प्रकार के रत्न और सिक्के यदि दुश्चित्तता के साथ (बिना परखे) लिये जाँय तो हानि होती है, परीक्षा न जानने के कारण लोग ठगे

आते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म निरूपण भी-बिना मन लगाये नहीं समझ पड़ता —५१-५२

(द० ७ स० ७)

परित्राणाय साधूनां । (गी० ४—८)

विष्णुका मूलरूप सत्वगुण, चैतनता ज्ञान है यह सूक्ष्म रूप अवश्य रहता है। इसके द्वारा सब प्राणियों की रक्षा होती है। यह विष्णुका सूक्ष्मरूप स्थूल शरीर धारण करके दुष्टों का संहार करता है ॥ ४० नाना अवतार धारने, दुष्टों का संहार करने और धर्मस्थापन करने के लिये विष्णु का जन्म होता है। ४१ ॥ धर्मस्थापन करने वाले पुरुषभी विष्णु का अवतार हैं और उनके सिवाय जो अभक्त और दुर्जन हैं वे सहज ही राक्षसों की गणना में आते हैं ॥ ४२ ॥ अब जो प्राणी पैदा होते हैं, वे चैतन्य न रहने पर नाश हो जाते हैं और इस प्रकार रुद्र तमोगुण से उनका संहार करता है ॥ ४३ ॥ रुद्र का पूर्ण कोप होने पर सम्पूर्ण सृष्टिका संहार हो जायगा—उस समय सारा ब्रह्माण्ड भस्म हो जायगा। ४४

(द० १० स० ४)

ये यथामांप्रपद्यन्ते । (गी० ४-११)

निश्चरूपमें परमात्मा को अपने पास रखनेकी कुंजी हमारे ही पास है। जिस प्रकार पोली जगह में जैसी हम आवाज़ करते हैं वैसीही प्रतिध्वनि आती है। उसीप्रकार, यदि हम परमात्मापर अनन्यभाव रखते हैं तो वह भी, उसी समय, प्रसन्न होजाता है और यदि हम उसकी ओरसे पराङ्मुख होते हैं तो वह भी हमारी ओरसे पराङ्मुख होजाता है ॥ १२। १३ ॥ जो जैसी भक्ति करता है वैसाही परमेश्वर भी उसके

लिये होजाता है, अतएव इसकी सारी कुंजी हमारे ही पास है ॥ १४ ॥ यदि हमारे मन के अनुकूल कोई बात न हो और इससे हमारी ईश्वरभक्ति चली जाय तो इसका भी दोष हमारे ऊपर ही है ॥ १५ ॥ देखिये न, मेघ यद्यपि चातक पर प्रसन्न नहीं होता, तोभी चातक अपना निश्चय नहीं छोड़ता, तथा चन्द्र यद्यपि समय पर नहीं उगता तोभी चकोर उससे अनन्य प्रेम रखता ही है । ॥ १६ ॥ ऐसी मित्रता रखनी चाहिये, विवेकसे धैर्य रखना चाहिये और भगवान् की ममता कभी नहीं छोड़नी चाहिये ॥ १७ ॥ भगवान् को सखा मानना चाहिये, इतनाही नहीं वरन् माता, पिता, गण, गोत, विद्या, लक्ष्मी धन वित्त सब कुछ परमात्माहीको जानना चाहिये—

(द० ४ स० ८)

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

(गी० ४-३८)

ज्ञानके समान पवित्र और उत्तम अन्य कुछ नहीं देख पड़ता, इसलिये पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

मन्त्रतो अनेक हैं, पर ज्ञान के विना सब निरर्थक हैं । इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं ॥ १८ ॥

नानाशास्त्रं पठेल्लोके नानादैवतपूजनम् ।
आत्मज्ञानं विना पार्थ सर्वकर्मनिरर्थकम् ॥
शवशात्मजमाया ये अन्ये च बहवोमनाः ।
अपभ्रंशसमास्तेऽपि जीवानां भ्रान्तचेतसाम् ॥
"(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥")

(गीता द० ५ स० ४)

विद्याविनयसम्पन्ने । (गी० ५-१८)

साधारण लोगों का ध्यान सिर्फ इन नाना प्रकार के शरीरों की ओर रहता है परन्तु विवेकी लोग इन शरीरों के

भीतर की वस्तु देखते हैं अर्थात् वे पण्डित (विवेकी) लोग समदर्शी होते हैं ॥ २४ ॥

वे लोग प्राणिमात्र को एकही समान इस प्रकार देखते हैं कि ऊपर ऊपर देखने में देह तो अलग अलग है पर भीतर सबके एक ही वस्तु है ॥२५॥ यद्यपि देखने में ये अनन्त प्राणी देख पड़ते हैं पर ये सब एक ही शक्तिमें वर्तते हैं, और वह शक्ति 'जगज्ज्योति' या 'संज्ञाशक्ति' है ॥ २६ ॥ 'ज्योति' या 'शक्ति' कानमें रहकर अनेक प्रकार के शब्दों का ज्ञान करती है, त्वचामें रहकर शीत और उष्ण को जानती है, और चक्षु में रहकर अनेक पदार्थों का देखने का ज्ञान करती है ॥ २७ ॥ तथा रसनामें रहकर रस, घ्राण में रहकर गन्ध, और कर्मेन्द्रियों में रहकर नाना प्रकार के विषयसुखों को जानती है ॥ २८ ॥ इस प्रकार वह सूक्ष्मरूप से अन्तर में रहकर स्थूलकी रक्षा करती है और नाना सुखदुःखों को पहचानती है अतएव उसे अन्तःसाक्षी या 'अन्तरात्मा' भी कहते हैं ॥ २९ ॥ उसीको आत्मा, अनन्तात्मा, अन्तरात्मा, विश्वात्मा, चैतन्य, सर्वात्मा सूक्ष्मात्मा, जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा, द्रष्टा, साक्षी और सत्तारूप कहते हैं ॥ ३० ॥ यही अविकार (अन्तरात्म) विकार (दृश्यसृष्टि) में रहकर अखण्ड रीतिसे नानाप्रकार के विकार किया करता है और इसी को मूर्ख लोग 'वस्तु' या परब्रह्म समझते हैं। सब चञ्चल और निश्चल को एक ही समान समझना-सारा एकाकार करना-यह तो मायिक स्थिति है सो सिर्फ इसी अविद्या माया के कारण है ॥ ३२ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः । (गी० ६-५)

यह मूर्ख अज्ञान मनुष्य (जाति) अपनेही संकल्प से स्वयं अपने को ही बांध लेता है और स्वयं अपनाही शत्रु बन

बैठता है। ३० ॥··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

\+ + + +

अस्तु यह संकल्प का बन्धन सन्त समागम से छूटता है।

(द० ८ स० ४)

भूमिरापोऽनलोवायुः—(गी० ७-४)

निश्चल (परब्रह्म) में जो चञ्चल (मूलमाया) होती है वह केवल कल्पना ही है—वही अष्टधा प्रकृतिका मूल है ॥ ५॥ अर्थात् कल्पना ही अष्टधा प्रकृति है और अष्टधा प्रकृतिही कल्पना है ॥ अष्टधा प्रकृति मूलमाया से उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥

(द० ११ स० १)

अन्तकाले च मामेव—(गी० ८-५-६)

अग्निर्ज्योतिरहः—(गी० ८-२३ से २६)

लोग इस सन्देह में रहते हैं कि उत्तरायण में मरना उत्तम है और दक्षिणायन में अधम है। पर साधु लोग इस सन्देह में नहीं पड़ते ॥ १३ ॥ शुक्लपक्ष में उत्तरायण में, घरमें, दीपक रहते समय, दिनमें और अन्त में स्मरण रहते हुए यदि देहान्त हो तो सद्गति मिलती है ॥ १४ ॥ परन्तु योगीको इन बातोंकी कोई ज़रूरत नहीं क्योंकि वह पुण्यात्मा तो जीते ही जीवन्मुक्त होकर पाप पुण्यको तिलाञ्जलि दे देता है ॥ १५ ॥ जिसका देहान्त अच्छी दशा में होता है और जो सुखपूर्वक देह त्यागता है, उसके लिये अज्ञानी लोग कहते हैं कि यह भगवान् के पास पहुंचेगा ॥ १६ ॥ परन्तु यह मत विपरीत है यह कल्पना करके कि अन्तमें भगवान् मिलता है वे स्वयं अपनी हानि कर रहे हैं ॥ १७ ॥

जीवितावस्थामें जब परमात्माकी भक्ति नहीं की और व्यर्थ ही आयु गंवा दी, तब फिर अन्तमें भगवान् कैसे मिलेगा!

अनाजका बीज तो बोयाही नहीं— जमेगा कैसे ? ॥ १८ ॥ जब जन्म भर ईश्वरभजन किया जाता है तभी नफ़ा मिलता है ॥ १९ ॥ यह कहावत तो सभीको मालूम होगी कि "दिये बिना मिलता नहीं और बोये बिना उगता नहीं ॥ २१ ॥ जैसे हराम खोर आदमी महीने भर नौकरी का काम न करके मालिक से तनख्वाह चाहता है उसी प्रकार अभक्त मनुष्य जन्म भर ईश्वर की भक्ति न करके मोक्ष चाहता है ॥ २१ ॥ यदि जीते जी भगवान्की भक्ति नहीं की है तो मरने पर मुक्ति कैसे हो सकती है अस्तु जो जैसा करता है वह वैसा पाता है ॥ २२ ॥ एवं जन्म भर भगवान्का भजन न करनेसे अन्तमें मुक्ति नहीं हो सकती मृत्यु चाहे जितनी अच्छी आवे, परन्तु भक्तिके बिना अवश्य अधोगति होती है ॥ २३ ॥

इसलिये साधु जनों को धन्य है जो जीते जी ही अपना जीवन सार्थक कर लेते हैं ॥ २४ ॥ ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानियोंका चाहे वनमें शरीरपात हो, चाहे श्मशानमें, वे धन्यही हैं ॥ २५ ॥ यदि साधु की देह पड़ी रही अथवा उसे कुत्ते आदियों ने खा लिया; तो लोगों का उनको अपनी मन्दबुद्धि के कारण अच्छा नहीं लगता ॥ २६ ॥ ये लोग प्रायः इसीलिये दुःखी होते हैं । अन्त अच्छा नहीं हुआ, पर क्या करें बेचारे मर्म नहीं जानते ॥ २७ ॥

ऐसे साधुओं को सेवा करने से सभी लोग मुक्त हो सकते हैं ॥ ३२ ॥

(द० ७ स० १०)

—०—

ददामि बुद्धियोगं तं:—(गी० १०-१०)

सारासार का विचार करने से और न्याय अन्याय पर सदा दृष्टि रखने से परमात्मा की दीहुई बुद्धि स्थिर होती है

॥२९॥ अनन्यभक्त को भगवान् स्वयं बुद्धि देता है भगवद्गीता का वचन सुनिये ॥ ३० ॥

परन्तु सगुणभजन, तिसपर भी ब्रह्मज्ञान और फिर अनुभव युक्त शांति संसार में दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

(द० १० स० ७)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां:—(गी० १०-२६)

श्रीकृष्ण तो कहते हैं कि 'पीपल मेरी विभूति है' परन्तु वृक्ष तो टूट सकता है और इधर वही कहते हैं कि ॥ १९ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि

'मेरा स्वरूप न शस्त्रों के द्वारा कट सकता है, न अग्नि से जल सकता है और न जल से गल सकता है ॥ २० ॥ परन्तु पीपल (जिसे श्रीकृष्ण अपनी विभूति कहते हैं) शस्त्र से कट सकता है, अग्नि से जल सकता है, और जल से भीग सकता है तथा नाशवान् भी है ॥ २१ ॥ अब श्रीकृष्ण ही के उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी वचनों का ऐक्य कैसे हो ? इस का मर्म सद्गुरु के मुख से ही मालूम हो सकता है ॥२२॥ श्रीकृष्ण कहते हैं "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" इन्द्रियों में मन मैं हूं तो फिर चञ्चल मन की लहर क्यों रोकी जाय ॥ २३ ॥ अब प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों कहा ? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार कंकड़ आदि रखकर अबोध बालकों को "ॐ नमः सिद्धम्" सिखलाया जाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अबोध साधकों को गीता द्वारा साधन मार्ग बतलाया है ॥ २४ ॥ यह सब वाक्य भेद वह गोविन्द जानता है- उस के तईं देहाभिमानी यह तेरा विवाद नहीं चल सकता ॥ २५ ॥.................................(द०६ स०६)

अध्यात्मविद्या विद्यानां--(गी० १०-३२)

सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ है। इस विषय में भगवद्गीता के दसवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं ॥ २७ ॥

अतएव अध्यात्मविद्या को वही समझ सकता है जो अपनी सब इन्द्रियोंका मन सहित उस में लगा देता है ॥२८॥ जिस पुरुष का मन चञ्चल है वह अध्यात्मविद्या से कोई लाभ उठा नहीं सकता ॥ २९ ॥ परमार्थी पुरुष को ही अध्यात्म विद्या का प्रचार करना चाहिये, इस से उसका परमार्थ और भी दृढ हो जाता है ॥ ३० ॥ परमार्थ में जिस का प्रवेश नहीं वह अध्यात्मग्रन्थ नहीं समझ सकता बिना नेत्रों के भला कोई कुछ देख भी सकता है ॥ ३१ ॥

(द० ७ स० १)

कार्यकारणकर्तृत्वे--(गी० १३-२०)

उस परमात्मा, परमेश्वर द्वारा ही यह सृष्टि विस्तृत हुई है वह ईश्वर ही सर्वकर्त्ता है ॥ १२ ॥ उसके अनन्त नाम हैं उसने अनन्त शक्तियाँ निर्माण की हैं, वही मूल पुरुष है ॥१३॥ उस मूल पुरुष की पहिचान वह स्वयं मूलमाया ही है अतएव सब कर्तृत्व उसी में आता है (द० ८ स० ३)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति--(गी० १४-१८)

यह देह सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है। इन में सत्वगुण उत्तम है क्योंकि सत्वगुण से मनुष्य भगवान् की भक्ति, रजोगुण से पुनरावृत्ति अर्थात फिर मनुष्य जन्म और तमोगुण से अधोगति पाते हैं ॥ २ ॥ उन में भी शुद्ध और शबल करके दो भेद हैं। जो निर्मल है वह शुद्ध और शबल

गुणवाधक है ॥ ३ ॥ हे विचक्षण श्रोतालोग! अब शुद्ध और शबल का लक्षण सावधान होकर सुनो । जिन लोगों में शुद्ध गुण हैं वे परमार्थी, और जिन में शबल है वे संसारी होते हैं ॥ ४ ॥ अब उन संसारी लोगों की यह स्थिति है कि उनकी देह में तीनों गुण वर्तते हैं । उन में एक गुण की जब विशेषता होती है तब दो गुण हीन पड़ जाते हैं ॥ ५ ॥ रज, तम, और सत्त्व इन्हीं से जीवन चलता है ।......॥ ६ ॥

(द० २ स० ५)

द्वाविमौ पुरुषौ--(गी० १५-१६)

वह न पुरुष है, न स्त्री है, न बाल है न तरुण है, और न कुमारी है । वह नपुंसक शरीर का धारण करने वाला है पर नपुंसक भी नहीं है ॥ ४३ ॥ यह सब देहों को चलाता है वह करके भी अकर्त्ता कहलाता है, वह क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्रवासी है और उसको देही अथवा कूटस्थ भी कहते हैं ॥ ४४ ॥ जगत् में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—एक क्षर और दूसरे अक्षर । सर्वभूतों को क्षर और कूटस्थ को अक्षर कहते हैं ॥ ४५ ॥ उत्तम पुरुष और ही है । वह निष्प्रपञ्च निष्कलङ्क निरञ्जन परमात्मा एक और निर्विकार है साधकों को चारों देहों का निरसन करके देहातीत होना चाहिये । देहातीत को ही अनन्यभक्त जानना चाहिये ।

[द० १० स० १०]

दम्भोदर्पोऽतिमानश्च--(गी० १६-४)

महात्मा श्रीकृष्ण जी गीता में ऐसे राक्षसी गुणों का वर्णन करते हैं-काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, दम्भ, तिरस्कार, गर्व

अकड़, अहङ्कार, दर्प, विकल्प, आशा, ममता, तृष्णा, कल्पना, चिन्ता, अहन्ता, भावना, ईर्षा, अविद्या, ईषणा [एषणा] वासना, अतृप्ति, आसक्ति, इच्छा, वाञ्छा, चिकित्सा, निन्दा, अनीति, कृतघ्नता, सदामस्ती ज्ञानीपन का अभिमान, अवज्ञा, विपत्ति, आपदा, दुर्वृत्ति, दुर्वासना, स्पर्द्धा, खटपट, चटपटी एक प्रकार की झटपट, धकधार, सदा खटपट मचाये रखना लटपटपन, ये सब कुधिया की परम व्यथाएँ हैं।

[द० २ श्लो० ७]

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र।

कैथल

थानेसर

करनाल

पानीपत

पलवल इन्द्रप्रस्थ मेरठ हस्तिनापुर
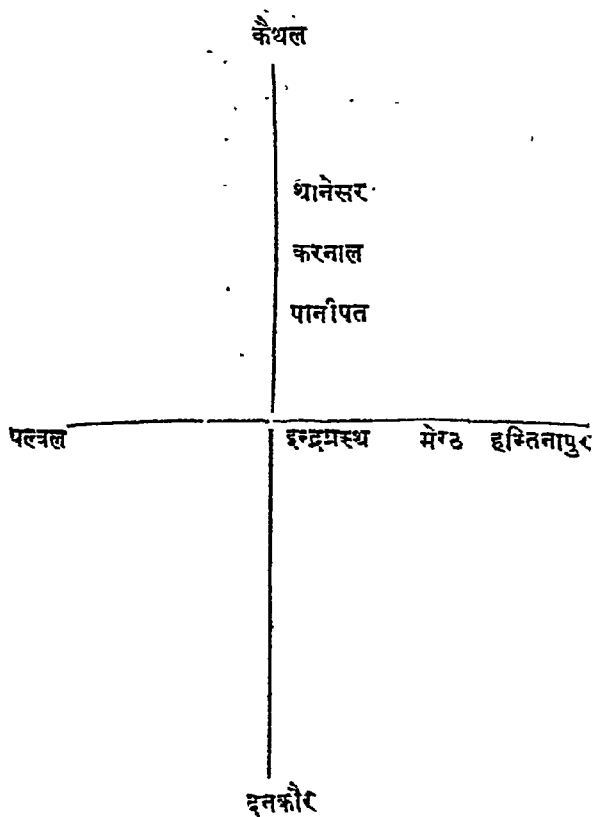
दनकौर

अध्याय (१)

धर्मक्षेत्र = पुण्यक्षेत्र—

कुरुक्षेत्र = कुरु=कौरवों का आदि पुरुष यहाँ खेती करता था इसीलिये कुरुक्षेत्र कहा गया, इन्द्र के वरदान से फिर यह धर्मक्षेत्र हुआ । इस क्षेत्र का विस्तार उत्तर में कैथल, दक्षिण में दनकौर, पश्चिम में पलवल और पूर्व में हस्तिनापुर तक माना गया है। कुरुकी सन्तान होनेसे सामान्यतया धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र 'कौरव' ही हैं तथापि विशेषरूप से युधिष्ठिर आदि पाँचों 'पाण्डव' नाम से प्रसिद्ध हैं, तब से दुर्योधनादि कौरव और युधिष्ठिरादि पाण्डव नाम से ही बोले जाते हैं—इस कुरुक्षेत्र की रणभूमि में परशुराम और क्षत्रियराजाओं का युद्ध हुआ, भीष्म और परशुराम का भी युद्ध हुआ कौरव-पांडव भी लड़े और अन्तमें मरहठे और मोगल जुटे तबसे कोई युद्ध नहीं हुआ—

दुर्योधन—गदा युद्ध में निपुण था:, भीम व यह दोनों बलरामके शिष्य थे- युद्ध में विकट होने से दुर्योधन नाम पड़ा, पाण्डव इसको सुयोधन ही कहा करते थे।

आचार्य—कौरव और पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य, द्रुपद और द्रोणाचार्य दोनों सहाध्यायी थे, एक ही गुरु के शिष्य थे।

महारथ—पहले रथ में बैठकर युद्ध करने की प्रथा थी, दशसहस्र मनुष्यों को वध करने की शक्ति जिसमें होती वह महारथ कहलाते थे।

विकर्ण— दुर्योधन के सौ भाइयों में से एक, इसने पाण्डवों का पक्ष लिया था।

अयन—बड़े बड़े मोर्चे।

द्रौपदेय—द्रौपदी के पांच पुत्र, द्रौपदी द्रुपद राजा की पुत्री।

सौभद्र—सुभद्रा का पुत्र = अभिमन्यु, सुभद्रा कृष्ण की बहन।

हृषीकेश—हृषीक =इन्द्रियां, ईश=उनका स्वामी अर्थात् योगिराज कृष्ण।

धार्तराष्ट्र—धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि १०१

गुडाकेश—गुडाका= निद्रा, ईश=स्वामी, निद्रा को जीतने वाला अर्जुन।

गाण्डीव—अर्जुन का धनुष,इन्द्र की कृपा का फल

निमित्त—लक्षण (शकुन)

माधव—कृष्ण।

सनातन—सदा+तन=जो सदा से चला आया है।

वर्णसंकर—वर्ण=ब्राह्मणादि ४ संकर=मेल खिचड़ी संकर दो प्रकार का है १-अनुलोम २-प्रतिलोम नीचे नीचे के वर्ण की लड़कियां ऊपर ऊपर

वर्ण में जब दी जाती हैं तब अनुलोम संकर होता है और जब ऊपर ऊपर की लड़कियां नीचे नीचे के वर्ण में आती हैं तब प्रतिलोम संकर होता है— और अनुलोम और प्रतिलोम का भी जब संकर होता है तब वह और निकृष्ट हो जाता है समान वर्णों में ही विवाहादि होना श्रेष्ठ है, उससे उतर कर है अनुलोम विवाह उससे उतर कर है प्रतिलोम इससे निकृष्ट है अनुलोम प्रतिलोम का संकर- वर्णाश्रम धर्म की नीव उत्तम बीज व उत्तम क्षेत्र के आधार पर रक्खी गई है।

जातिधर्म—अपनी अपनी जाति के विशेष कर्त्तव्य, रिवाज

कुलधर्म—अपने अपने खानदान (वंश) के विशेष विशेष धर्म,

नरक-अधः पतन;-पौराणिकों के मतमें एक लोकविशेष।

अध्याय २

मधुसूदन-मधु नामक राक्षस को मारने वाला कृष्ण।

कश्मल—मोह, कालक।

क्लैब्य—नपुँसकता, कायरता।

भैक्ष्य-भिक्षा माँगकर लाया हुआ अन्न।

गरीय-बड़ा।

सुर—देवता।

प्रज्ञावाद–ज्ञान की बातें।

पण्डित—पण्डा=बुद्धि, वह जिसकी हो वह पण्डित, बुद्धि से जो यथार्थ काम लेते हैं वेही पण्डित हैं।

जनाधिप—जन=लोगों के अधिप=पालन करने वाले=राजा महाराजा।

देही—आत्मा=देह का स्वामी

मात्रा स्पर्श—मात्रा=वाह्य सृष्टि के पदार्थ उनसे स्पर्श, संयोग।

आगमापायी–आनेवाले और आकर जानेवाले=अनित्य

पुरुषर्षभ—पुरुषों में ऋषभ=श्रेष्ठ।

प्रतिष्ठिता–स्थिर हुई हुई

रस–चाह

काम—संग की विपाक दशा: जिस दशा में पहुंचकर पुरुष विना विषय भोग के नहीं रह सकता वह काम है।

प्रसाद—प्रसन्नता

भावना—दृढ बुद्धि

संयमी—संयमवाला

कामकामी—काम=वासना, कामी–चाहने वाला=वासनाओं के पीछे पड़ा हुआ पुरुष

ब्रह्मनिर्वाण—मोक्ष=ब्रह्म में मिल जाना।

अध्याय ३

व्यामिश्र—संदिग्ध

निष्ठा—मानसिक दृढ़ भावना

सांख्य—संख्या=बुद्धि, उससे युक्त जो हों वे सांख्य।

योगी—योग=कर्मयोग, वह जिनका हो।

इष्टकामधुक्—मनचाहा फल देनेवाले—

मिथ्याचार—ढोंगी।

स्तेन—चोर

किल्विष—पाप।

पाप—पापी।

इन्द्रियाराम— विषयलोलुप

ब्रह्म—प्रकृति।

अर्थव्यपाश्रय—प्रयोजन की रुकावट=मतलब का अट-
के रहना।

लोकसंग्रह—लोकरक्षा; लोगों को मर्यादामें स्थित रखने
का प्रकार।

निराशी—फलकी आशा न रखने वाला;

परिपन्थी—लुटेरा

महाशन—पेटू

सत्—मूल प्रकृति (सब जगत् का कारण)

असत्—विकृति (कार्यरूप जगत)

तत्त्वदर्शी—तत्त्वज्ञानी,

अन्तवन्त–अन्तवाले अर्थात् नश्वर

शरीरी—आत्मा, जिसका शरीर है

अज—अजन्मा

शाश्वत—स्थिररूप से रहने वाला,

अव्यय—विकाररहित-

वासांसि—कपड़े

स्थाणु—स्थिर

अव्यक्त—जो प्रकट न हो, जो इन्द्रियों को प्रकट न हो—

परिदेवना—शोक

अवध्य—अ = नहीं, वध्य = मारने योग्य, जिसको कोई
मार नहीं सकता,

धर्म्य- धर्म के लिये हितकर,

यदृच्छया—अपने आप आया हुआ,

संभावित–प्रतिष्ठित

अवाच्यवाद— कटीली बातें

मही—पृथिवी

अभिक्रम-नाश—प्रारम्भ किये हुए का नाश

व्यवसायात्मिक—निश्चयात्मक, स्थिर

वेदवादरत—कर्म काण्ड की बातोंमें लगाहुआ-

त्रैगुण्यविषय—सत्त्व, रज. तम इन की बातें या विषय

निस्त्रैगुण्य-तीनों गुणों से परे, पृथक्

निर्योगक्षेम-योगक्षेम (गुजारा) की चिन्ता से हटाहुआ

उदपान—कूप, हौज़

कृपणा-नीचली कोटिके

कौशल—चतुराई

मोहकलिल—मोह का आवरण

निर्वेद-वराग्य

स्थितप्रज्ञ—स्थितधीः = स्थिरमति

अध्याय ४

विवस्वान्—सूर्य

परन्तप—शत्रुको तपाने वाला

प्रकृति-माया

ग्लानि—ह्रास

परित्राण-रक्षा

मुमुक्षु—मोक्ष का चाहने वाला

समारम्भ—उद्योग

द्वन्द्वातीत—द्वन्द्व = सुख दुःख, भूख प्यास, शीत उष्ण,
उससे परे

अज्ञ—मूढ़, बेसमझ

अश्रद्दधान—श्रद्धारहित

संशयात्मा—सन्देहवादी

अध्याय ५

निःश्रेयस्कर—कल्याणकारी

बाल—अज्ञ, बेसमझ, अपक्वज्ञानवाला

जितेन्द्रिय—इन्द्रियों को जिसने जीत लिया है

कामकार—वासनाओं में बँधा हुआ पुरुष

स्वभाव—प्रकृति वासना

जन्तु—प्राणी

समदर्शी—समबुद्धि रखनेवाला पुरुष

छिन्नद्वैध—जिसकी द्वैतबुद्धि निकल गई है

अध्याय ६

शमः—कर्म की निवृत्ति

चैल—वस्त्र

अजिन—मृगचर्म

दुःखहा—दुःख को मिटानेवाला

उपमा—दृष्टान्त, मिसाल

गुरु—बड़ा

दुर्निग्रह—बड़ी कठिनता से रोकने योग्य

दुष्प्राप— ,, ,, ,, प्राप्त होने योग्य

कल्याणकृत्—कल्याण करनेवाला

अध्याय ७

ज्ञातव्य—जानने योग्य

अष्टधा—आठ प्रकार की विकृति महदादि

कृत्स्न—सम्पूर्ण

प्रोत—परोया हुआ

दुरत्यया—दुस्तर

दुष्कृती—दुष्टकाम करनेवाला

सुकृती—अच्छे काम करनेवाला

आर्त्त—भ्रष्टैश्वर्य्य वाला पुरुष जो फिर ऐश्वर्य चाहे

जिज्ञासु—प्रकृति से छूटकर आत्मस्वरूप के जानने की इच्छा वाला

अर्थार्थी—जिसको कभी ऐश्वर्य नहीं मिला और जो चाहता है

सुदुर्लभ—बड़ी कठिनाई से प्राप्त होसकने योग्य

प्रकाश—प्रकट

कश्चन—कोई भी नहीं

अध्याय ८

पुरुषोत्तम—पुरुषों में श्रेष्ठ

प्रयाणकाल—अन्त समय

विसर्ग—सृष्टिव्यापार

देहभृत्—देहधारी

कलेवर—शरीर

वीतराग—जो पुरुष रागद्वेष से परे है

योगधारण— समाधि

अहोरात्रविद्—दिनरात के तत्व को जानने वाला

अवश—वेवस

सृति—मार्ग

अध्याय ९

राजविद्या सब विद्याओं का राजा

राजगुह्य—सब गुह्य=रहस्यों का राजा

सर्वत्रग—सर्व व्यापी

कौन्तेय—कुन्ती का पुत्र=अर्जुन

भूतग्राम—पञ्च भूतों का समूह

सचराचर—स्थावर और जङ्गम सहित

त्रैविद्य-तीनों वेदों के ज्ञाता

सोमप-सोम पीनेवाले

कामकाम-कामनाओं की कामना करनेवाला

मर्त्यलोक-यह संसार

अध्याय-१०

लोकमहेश्वर—लोकों का स्वामी

पृथग्विध—अलग अलग, भिन्न भिन्न प्रकार के

विभूति—विस्तार

ऋत-सत्य

दानव-राक्षस असुर

आत्मविभूति-अपना विस्तार

यादस्-जलचर प्राणी

उशना-शुक्राचार्य

अध्याय-११

भवाप्यय-भव+अप्यय=उत्पत्ति, नाश

भा:-ज्योति

विस्मयाविष्ट-चकित हुआ

कृताञ्जलि-हाथ जोड़ा हुआ पुरुष

उरग—सर्प

शर्म—सुख

उत्तमाङ्ग—सिर

अम्बुवेग—जलका वेग

प्रवृत्ति—करनी

सव्यसाची—अर्जुन, बायें हाथसे भी बाण फेंकता था इस लिये सव्यसाची नाम पड़ा

सर्व—सब कुछ

व्यपेतभी—निडर

सौम्यवपु—सौम्यरूपधारी

प्रकृति—स्वभाव, पूर्वदशा, पूर्वरूप

अध्याय—१२

योगवित्तम—योग जाननेवालों में श्रेष्ठ

मैत्र—सबसे मित्रभाव से वर्त्तनेवाला

करुण—दुःखितों पर करुणा करनेवाला

अनिकेत—गृहरहित, स्थानरहित

अध्याय—१३

क्षेत्र—शरीर

क्षेत्रज्ञ—शरीरतत्व को जाननेवाला

महाभूत—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश

सविकार—विकारवाला, विकारसहित

ज्ञेय—प्रमेय = जाननेयोग्य

गुणभोक्तृ—गुणों का भोगनेवाला

धिष्ठित—अधिष्ठित

समासतः—संक्षेपसे

श्रुतिपरायण—सुनकर भी श्रद्धा रखकर चलनेवाला

अध्याय—१४

साधर्म्य—समानधर्म

महद्ब्रह्म—प्रकृति

जघन्य—नीच

मद्भाव—मेराभाव

गुणातीत—तीनों गुणों से परे

ब्रह्मभूय—ब्रह्मभाव

एकान्तिक—परमावधि

अध्याय—१५

ऊर्ध्वमूल—जिसकी जड़ें ऊपर को हों

विषयप्रवाल—विषयरूपी कोंपलों वाला

संप्रतिष्ठा—स्थिति

पुराणी–पुरानी

मामक–मेरा

रसात्मक–रसरूप

अपोहन–नाश

प्रथित–प्रसिद्ध

अध्याय—१६

सत्त्वसंशुद्धि–शुद्ध सात्विक वृत्ति

अतिमानिता–बड़ा अभिमान

अनीश्वर–ईश्वररहित

अल्पबुद्धि–बेसमझ

अशुचिव्रत–गन्दे

अभ्यसूयक–निन्दक

कार्याकार्यव्यवस्थिति–कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय

अध्याय—१७

शास्त्रविधि–शास्त्रों के विधान

निष्ठा–मन की स्थिति

स्वभावज–स्वाभाविक

स्वत्त्वानुरूप–स्वभावानुरूप

यच्छ्रद्धः-जिस श्रद्धावाला

अशास्त्रविहित-शास्त्रों में जिसका विधान नहो

अनुद्वेगकर-जिससे किसी का मन न दुखे

वाङ्मय-वाणी सम्बन्धी, वाणी का

परिक्लिष्ट-रो-झींककर

विधानोक्त-शास्त्रों में जैसा कहा है

अध्याय—१८

तत्व-मतलब

केशिनिषूदन-केशी नामक राक्षस को मारनेवाला कृष्ण

विचक्षण-बुद्धिमान्, विद्वान्

पावन-पवित्र करनेवाला

सत्त्वसमाविष्ट-सत्त्वशील

हेतु-कारण

कामेप्सु-कामना रखनेवाला

प्राकृत-गँवार

नैष्कृतिक-दूसरों की हानि करनेवाला

दुर्मेधा-कूढ दिमाग

दुःखान्त-दुःख की समाप्ति

समुपाश्रित-प्राप्त हुआ

मद्व्यपाश्रय–मेरा विशेष आश्रय रखनेवाला

अतपस्क–अतपस्वी

अज्ञानसंमोह–अज्ञान का परदा

गतसन्देह–संशयरहित

योगेश्वर–समस्त योगों का स्वामी

श्लोक सूची

(अ)

(प)

[र]

[स]

भूलसंशोधन ।

ब्लाक बनानेवालों की असावधानी से 'अर्जुनविषाद' के स्थान में 'अर्जुनविशाद' छपा है ।

(संशोधक)

धन्यवाद ।

श्री बा० मथुरादास जी रुड़की, श्री० ला० ठाकुरदास जी गुप्त सहारनपुर, श्री वैद्यराज पं० रामसहाय जी मेरठनिवासी का मैं कृतज्ञ हूं कि इन्होंने आर्थिक सहायता द्वारा मेरा उत्साह बढ़ाया ।

नरदेवशास्त्री ।